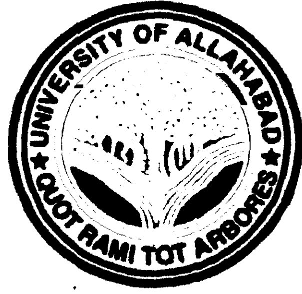
शङ्कराचार्य के विशेष परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द की कृतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
की
डी० फ़िल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध-सार



निर्देशक :
डॉ० राम सेवक दुबे
उपाचार्य
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता
असीम श्रीवास्तव

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
सन् - 2005 ई०

व्यावहारिक बनाने के प्रयासों का स्फुट प्रकाशन करने का यथाशक्य प्रयास किया गया है। इस उद्देश्य की सर्वांगीण पूर्ति के लिए यह शोध–प्रबन्ध निम्नलिखित छह अध्यायों में विभक्त किया गया है : –

प्रथम अध्याय :–

किसी महापुरूष के विचारों के सम्यक् प्रस्फुटन, पल्लवन और अभिव्यंजन के मूल में उसके व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों, व्यक्तित्व निर्माण के परिस्थितिजन्य उतार–चढ़ाव और सामाजिक तथा पारिवारिक परिदृश्यों का मौलिक योगदान होता है । अतः उन सब की समुचित गवेषणा उस महापुरुष के तत्तत् विचारों, सन्देशों और समाधानों का स्वरूप समझने में निर्भ्रान्त सहायता देती है। इसीलिये इस अध्याय में स्वामी विवेकानन्द के जीवनवृत्त का यथासम्भव क्रमिक, वास्तविक और यथार्थ दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है। रामकृष्ण परमहंस जी विवेकानन्द को अपने समस्त शिष्यों में सर्वाधिक योग्य, सक्षम एवं दैवीगुणों से सम्पन्न मानते थे। विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस के जीवन में प्रतिफलित तथा निज अनुभूति की कसौटी पर सुपरीक्षित उपनिषदों की गूढ़वाणी का आधुनिक मानवमन के लिये सहजग्राह्य भाव एवं भाषा में प्रचार करके मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में देहत्याग किया। अपने कार्य को आगे भी जारी रखने के उद्देश्य से उन्होंने 'रामकृष्णमिशन' की स्थापना की। विवेकानन्द का व्यक्तित्व अपने में एकसाथ ही एक संन्यासी, योगी, समाज-सुधारक, सन्त, तथा जननायक के गुणों को समाहित करता है।

द्वितीय अध्याय :—

इस अध्याय में विवेकानन्द की कृतियों अर्थात् उनके भाषणों, सम्भाषणों, ग्रन्थों तथा पत्रों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। वर्तमान में विवेकानन्द के स्वरचित सात ग्रन्थ, लगभग 230 लिपिबद्ध व्याख्यान, 785 प्रकाशित पत्र, 38 कविताएँ तथा कुछ फुटकल लेख, वार्त्तालाप इत्यादि प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त भी उनके कई व्याख्यान, पत्र तथा लेख आदि निश्चित तौर पर रहे होंगे, जो या तो नष्ट हो चुके हैं, या किसी अन्य कारण से अब तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं। इस शोध–प्रबन्ध में उनके ग्रन्थों का वर्गीकरण तथा प्रामाणिक संख्या का निर्धारण तो किया गया है, किन्तु अन्य कृतियों का ऐसा विभाजन या वर्गीकृत विवेचन नहीं किया गया है। इस अध्याय में विवेकानन्द की कृतियों की शैली तथा विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय :—

इस अध्याय में सर्वप्रथम विवेकानन्द के दार्शनिक चिन्तन के विकास का वर्णन है। बाल्यकाल से लेकर संन्यासी बनने तक, उनकी विचारसरणि किन–किन दार्शनिक मतवादों से प्रभावित हुई तथा कौन से महापुरुषों का उन पर प्रभाव पड़ा, इसका क्रमिक वर्णन है। फिर, उनके दर्शन की आधारभित्ति क्या थी, इस पर चर्चा का गयी है। विवेकानन्द अपने गुरु के सर्वधर्मसमन्वय के विचार से बहुत अधिक प्रभावित थे और इसीलिए उनका समग्र दर्शन इसी समन्वय की

भावना से अनुप्राणित है। वह जहाँ एक ओर ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्ग में समन्वय करते हैं, वहीं दूसरी ओर वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में चले आ रहे परस्पर खण्डन–मण्डन पर विराम लगाते हुए द्वैत–अद्वैत–विशिष्टाद्वैत का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते हैं। उनका अधिकारीविचार अद्वैतवेदान्त के अन्य विचारकों की तुलना में अनोखा है। साधनचतुष्टयसम्पन्नप्रमाता मात्र को अद्वैतज्ञान देना उन्हें इष्ट नहीं है। वह हर एक व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी मानते हैं। इसी अध्याय में विवेकानन्द के ब्रह्म, माया, जीव, जगत् तथा मोक्ष और उसके साधनों इत्यादि से सम्बन्धित विचारों का विवेचन किया गया है, जो प्रायः अद्वैतवेदान्त के अनुसार ही है। अन्तर मोक्ष के साधन को लेकर ही है, जहाँ वह अद्वैतवेदान्त के पूर्वाचार्यों को मान्य एकमात्र मार्ग 'ज्ञानयोग' के अतिरिक्त कर्मयोग, भक्तियोग तथा राजयोग को भी मोक्षप्राप्ति के स्वतन्त्र मार्ग के रूप में स्वीकार करते हैं।

चतुर्थ अध्याय :–

विवेकानन्द ने वेदान्त के विभिन्न मतों का समन्वय करके एक व्यावहारिक दर्शन प्रस्तुत किया है, जिसे वह वेदान्तधर्म कहते हैं। पाश्चात्त्य देशों में उन्होंने विश्वमानव के कल्याण के लिए सार्वभौमिक वेदान्तधर्म के शाश्वत सत्य का प्रचार किया था और भारत में लौट कर यहाँ की जराजीर्ण सभ्यता, समाज एवं प्राणहीन धर्माचरण की गतानुगतिकता पर अतिनिर्मम प्रहार किया तथा एक समन्वयपूर्ण सार्वभौम धर्म की आवश्यकता पर बल दिया। उनके कोलम्बो से लेकर मद्रास तक के भाषणों में उपलब्ध वेदान्तधर्म के तत्त्वों के जनमानस पर

प्रभाव ने भारत में नवयुग के आगमन के सभी लक्षण प्रकट कर दिये थे। उनके इस युगान्तरकारी वेदान्तधर्म का विस्तृत निरूपण इसी अध्याय में किया गया है। विवेकानन्द का मानना है कि वह मनुष्य, जो ईश्वर को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में देखता है, वही सचमुच ईश्वर की उपासना करता है। परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। उपासना का यह अद्भुत तरीका अपने में ब्रह्मभाव उत्पन्न करने का सबसे व्यावहारिक और सरल तरीका है। विवेकानन्द के इस समन्वयात्मक मुक्तिमार्ग की भी व्याख्या इस अध्याय में की गयी है। साथ ही, विवेकानन्द का धर्मप्रचार धनसंग्रह का उपायमात्र न होकर बद्धजीवों की मुक्ति के लिये किया गया करुणापूर्वक कार्य था। वह केवल भारतीयों के उत्थान के लिये प्रयासरत नहीं थे, अपितु उनका उद्देश्य प्राणी मात्र की आध्यात्मिक उन्नति के लिये कार्य करना था। इन सब बिन्दुओं से जुड़े हुए, स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका तथा भारत में, धर्मप्रचार के रहस्य पर विस्तृत चर्चा भी इसी अध्याय में की गयी है।

<u>पंचम अध्यायः</u>–

इस अध्याय में शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। शङ्कर के ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः के सिद्धान्त की विशद व्याख्या की गयी है। विवेकानन्द तत्त्वमीमांसा में शङ्कर के अद्वैतवाद से पूर्णतः सहमत हैं। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' का उद्घोष करने वाली

'बृहदारण्यकोनिषद्' की ही अन्तरात्मा विवेकानन्द के ईश्वर दर्शन या ईश्वर–साक्षात्कार के रूप में पूर्णतया अभिव्यक्त हुई है। उपनिषद् के 'एकमेवाद्वितीयम्' की आधारशिला पर ही विवेकानन्द का तत्त्वदर्शन प्रतिष्ठित हुआ है । माया का स्वरूप, उसकी अनिर्वचनीयता, उसकी सर्वकार्यकारिता, दुर्ज्ञेयता और अकिंचित्करता का पूर्ण विवेचन शङ्कराचार्य की विवेक–चूड़ामणि से अनुप्राणित हैं। हाँ, अद्वैत तत्त्व की सिद्धि के लिये दिये गये शङ्कर के अकाट्य तर्कों, प्रमाणों और युक्तियों को मूलतःअन्तर्भुक्त करते हुए भी विवेकानन्द ने आज के पौरस्त्य और पाश्चात्त्य विद्वन्मण्डल को दृष्टि में रखते हुए नयी, समयानुकूल एवं प्रखरतर युक्तियों का आश्रय लेते हुए अद्वैत को प्रतिष्ठित किया है । साथ ही व्यावहारिक सत्य को अधिक स्पष्ट रूप में और अधिक बोधगम्यता के साथ एक विशाल फलक पर रूपायित किया है। यह भी समीक्षा की गयी है कि विवेकानन्द ने शाङ्कर मतवाद का मक्षिकास्थाने मक्षिका रूप में अन्धानुवाद मात्र नहीं किया है। इसीलिए विवेकानन्द और शङ्कराचार्य के दार्शनिक विचारों की तुलना करते हुए मतभेद वाले विचारों को अधिक गहराई से प्रस्तुत किया गया है, ताकि विवेकानन्द के विचारों की मौलिकता स्पष्ट दिखायी पड़े। विवेकानन्द ज्ञान की प्राप्ति कर्म, भक्ति तथा योग की साधना से भी मानते हुए शङ्कर से मतभेद रखते हैं। वह द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और इन दोनों को अद्वैतज्ञान तक पहुँचने में सहायक मानते हैं। वह प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी मानते हैं। इस दृष्टि से वह जाति-लिङ्ग-वर्ण भेद को नहीं मानते।

इसके बाद विवेकानन्द के सिद्धान्तों की अन्य वेदान्तसम्प्रदायों के प्रमुख आचार्यों के सिद्धान्तों से तुलना प्रस्तुत की गयी है, जो यह निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त है कि विवेकानन्द अन्य किसी भी वेदान्तसम्प्रदाय की अपेक्षा शङ्कर के अद्वैतवेदान्त से अधिक प्रभावित हैं।

षष्ठ अध्यायः—

विषयवस्तु को उपसंहृत करते हुए यह दर्शाया गया है कि दार्शनिक क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द का कृतित्व वस्तुतः किस रूप में प्रतिफलित होता हैं और समाज को , भारतीय चिन्तनधारा को, तथा नाना दुःखदग्ध मानव को क्या योगदान है। ऐसे समय में जब प्राचीन काल से सभी उदात्तता, नीति और आध्यात्मिकता का जन्मस्थान रहे भारत के ललाट पर परतन्त्रता की कालिमा प्रलिप्त थी, प्रेम–पवित्रता–निःस्वार्थता–सौहार्द आदि उच्च आदर्श विगलित होकर प्राणहीन आचारानुष्ठान में पर्यवसित थे और पुनर्जागरण की लहर सी चल रही थी; विवेकानन्द ने अपने विचार, वाणी एवं कर्म से धार्मिक एकता, जनकल्याण और आध्यात्मिकता की अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी। स्वामी विवेकानन्द ने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया है, जो सम्प्रदाय व मतवाद के बन्धनों से सम्पूर्णरूप से मुक्त है; उन्नति, पवित्रता व स्वर्गीय आनन्द को देने वाला है; सभी तरह से निष्कलङ्क है; और जो ईश्वर एवं मानव के प्रति प्रेम व अनन्त दया पर स्थापित है। उन्होंने अपनी विलक्षण सूक्ष्मेक्षिका-सम्पन्न प्रतिभा द्वारा अपनी कृतियों में तत्त्वदर्शन की ऐसी शाश्वत ज्योति प्रकाशित की है, जो सामान्यजनों का भी सहजग्राह्य

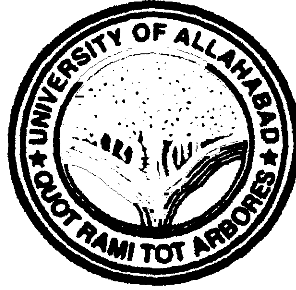
प्रेरणास्रोत है। उनकी कृतियों में जीवन के चरम लक्ष्यभूत अध्यात्मप्रकाश की सम्प्राप्ति के अनेकविध साधनों की सरलतम विधि प्रतिपादित है। व्यावहारिक लोकजीवन एवं परमार्थसाधना का सन्तुलित समन्वय, जो भारतीय मनीषियों की तत्त्वान्वेषिणी प्रज्ञा की अद्वितीय मौलिकता है– वही स्वामीजी की कृतियों का स्वाभाविक वर्ण्यविषय बना है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द की कृतियाँ श्रेयःप्रधान अभ्युदय एवं पार्यन्तिक रूप में ब्रह्मज्ञान की सम्प्राप्ति का सफल निदर्शन करती हैं। और कृतियों की इसी सफलता के कारण सार्वभौम समन्वय का सन्देश–वाहक यह विराट् व्यक्तित्व मानव जीवन के निरन्तर प्रवहमान इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर लोकातीत एवम् कालातीत पदवी का अप्रतिम अधिकारी सिद्ध होता है।

शङ्कराचार्य के विशेष परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द की कृतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
की
डी० फ़िल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध



निर्देशक :
डॉ० राम सेवक दुबे
उपाचार्य
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता
असीम श्रीवास्तव

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
सन् - 2005 ई०

Certified that the present thesis, entitled as "*Shankaracharya Ke Vishesh Pariprekshya MeinSwami Vivekanand ki kritiyon Ka Vishleshnatmak Adhyayan*" has been written by the candidate, Shri Aseem Srivastava under my supervision and that it is his original work.

Dr.Ram Sewak Dubey
Reader,
Department of Sanskrit
University of Allahabad

अनुक्रमणिका

भूमिका

भूमिका

हम कौन हैं? कहाँ से इस संसार में आये हैं? मृत्यु के बाद कहाँ जाएँगे? जीवन–मृत्यु क्या है? इस संसार की वास्तविकता क्या है? यह कैसे बना है? क्या यह चिरस्थायी है? इसका अधिष्ठाता कोई है या नहीं? सृष्टि के आरम्भ से ही ये प्रश्न मानव–मस्तिष्क के लिए चुनौती बने रहे हैं। समय–समय पर प्रबुद्ध विचारकों ने गम्भीर चिन्तन एवं मनन के पश्चात् कुछ सिद्धान्तों के माध्यम से इन जटिल प्रश्नों का तार्किक उत्तर देने का प्रयास किया है। सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त इत्यादि विभिन्न दर्शन इन्हीं प्रयासों के परिणाम हैं। मुझे भी बाल्यकाल से ही ये प्रश्न बहुत आकर्षित करते रहे और यथाबुद्धि मैं इनका उत्तर जानने के लिए विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़ता था और दर्शन पर होने वाली चर्चाओं को सुनता था। घर पर विभिन्न दार्शनिक मतों पर परिचर्चा के अतिरिक्त गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों, और उन पर शङ्कर के भाष्य का प्रायः ही पितृमुख से श्रवण का सुअवसर मिलने से मेरी निष्ठा बचपन से ही अद्वैतवेदान्त के प्रति अधिक हो गयी थी। दर्शनशास्त्र, विशेषतः अद्वैतवेदान्त में रुचि के कारण ही मैं विज्ञानवर्ग को छोड़कर कलावर्ग में आया और फिर विश्वविद्यालय में बी॰ए॰ की परीक्षा हेतु संस्कृत तथा दर्शनशास्त्र विषयों का चयन किया। एम॰ए॰ परीक्षा के लिए दर्शनशास्त्र विषय को छोड़कर संस्कृत विषय लेने के पीछे मेरी धारणा यह थी कि मैं भारतीय दर्शन के गूढ़तत्त्वों को जानने में तभी समर्थ हो सकता हूँ जब भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करूँ और यह बात संस्कृत विषय लेने में ही सम्भव थी,

क्योंकि संस्कृत विषय में, दर्शनवर्ग में ये ग्रन्थ पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ही पढ़ाए जाते हैं। विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान मुझे वेदान्त पर विवेकानन्द की पुस्तक–पुस्तिकाओं को पढ़ने का मौका मिला। इससे पूर्व मुझे स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी, हालाँकि मैंने उनके संक्षिप्त जीवन चरित तथा राजनीतिक व सामाजिक विचारों को थोड़ा–बहुत पढ़ा था। जिसके कारण मेरे मन में स्वामी जी की छवि एक देशभक्त तथा प्रबल राष्ट्रवादी के रूप में अंकित थी। मैंने धीरे–धीरे उनका समग्र उपलब्ध साहित्य पढ़ लिया। इस अध्ययन से मुझे तीन बातें स्पष्ट हुईं –

1. स्वामीजी मूलतः एक दार्शनिक थे, सामाजिक व राजनीतिक विचारक नहीं।
2. स्वामीजी अद्वैतवेदान्ती विचारक थे, उन्हें सांख्याचार्य या बौद्ध समझना भ्रामक है।
3. अद्वैतवेदान्त पूर्णतः व्यावहारिक दर्शन है, और इसे दैनिक जीवन में उतारा जा सकता है।

जब इन बिन्दुओं की चर्चा मैंने अपने पिताजी से की तो उन्होंने मुझे स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों पर शोध करने को कहा। और मैं शोधकार्य की ओर प्रवृत्त हुआ। मेरे प्रति अनुजवत् स्नेह रखने वाले परमादरणीय डा॰रामसेवक दुबे ने मेरा शोध–प्रबन्ध–निर्देशक बनना स्वीकार कर लिया। और फिर उनके शुभाशीर्वादस्वरूप मेरा शोधकार्य शुरू हो गया।

क्योंकि संस्कृत विषय में, दर्शनवर्ग में ये ग्रन्थ पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ही पढ़ाए जाते हैं। विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान मुझे वेदान्त पर विवेकानन्द की पुस्तक–पुस्तिकाओं को पढ़ने का मौका मिला। इससे पूर्व मुझे स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी, हालाँकि मैंने उनके संक्षिप्त जीवन चरित तथा राजनीतिक व सामाजिक विचारों को थोड़ा–बहुत पढ़ा था। जिसके कारण मेरे मन में स्वामी जी की छवि एक देशभक्त तथा प्रबल राष्ट्रवादी के रूप में अंकित थी। मैंने धीरे–धीरे उनका समग्र उपलब्ध साहित्य पढ़ लिया। इस अध्ययन से मुझे तीन बातें स्पष्ट हुईं –

1. स्वामीजी मूलतः एक दार्शनिक थे, सामाजिक व राजनीतिक विचारक नहीं।
2. स्वामीजी अद्वैतवेदान्ती विचारक थे, उन्हें सांख्याचार्य या बौद्ध समझना भ्रामक है।
3. अद्वैतवेदान्त पूर्णतः व्यावहारिक दर्शन है, और इसे दैनिक जीवन में उतारा जा सकता है।

जब इन बिन्दुओं की चर्चा मैंने अपने पिताजी से की तो उन्होंने मुझे स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों पर शोध करने को कहा। और मैं शोधकार्य की ओर प्रवृत्त हुआ। मेरे प्रति अनुजवत् स्नेह रखने वाले परमादरणीय डा॰रामसेवक दुबे ने मेरा शोध–प्रबन्ध–निर्देशक बनना स्वीकार कर लिया। और फिर उनके शुभाशीर्वादस्वरूप मेरा शोधकार्य शुरू हो गया।

उपर्युक्त बिन्दुओं को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में शंकराचार्य के विशेष परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द की कृतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। स्वामीजी की कृतियों से आशय उनके द्वारा लिखी गयी पुस्तक मात्र से नहीं है। 'कृति' में पुस्तक के साथ–साथ व्याख्यान, पत्र, कक्षालाप, पद्यरचना तथा लेख–निबन्धादि का भी परिगणन है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में उनकी समस्त उपलब्ध कृतियों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। इन कृतियों में स्वामीजी ने जो दार्शनिक विचार व्यक्त किये हैं, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में उन्हीं विचारों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है; उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का नहीं। शोधप्रबन्ध के अध्याय तीन और चार में स्वामीजी के इन्हीं दार्शनिक विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्वामीजी का दर्शन के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान अद्वैतवेदान्त को व्यावहारिक बनाने का था। इस सरल तथा सहजग्राह्य वेदान्तधर्म का विस्तृत विवेचन आवश्यक था और इसीलिए इसका वर्णन एक अलग अध्याय में किया गया है। अध्याय पाँच में शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों में साम्य के साथ–साथ उन बिन्दुओं को भी उजागर किया गया है जहाँ वैषम्य है। साथ ही, विवेकानन्द के प्रमुख विचारों की वेदान्त दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के प्रतिनिधि आचार्यों के साथ भी तुलना दर्शायी गयी है, जिससे दर्शन के क्षेत्र में विवेकानन्द की मौलिकता तथा देन को स्पष्ट किया जा सके। स्वामीजी अद्वैतवेदान्त दर्शन के उत्तम आचार्य थे और उनका वेदान्तधर्म वर्तमान युग के अनुकूल अद्वैतवेदान्त की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है। शंकराचार्य अद्वैतवेदान्त के अब तक

के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता हुए हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि स्वामीजी के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण करते समय इनकी तुलना शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों के साथ की जाए।

स्वामीजी की गम्भीर मनस्वितापूर्ण, विचारप्रसविनी लेखनी तथा आत्मविश्वास एवं प्रेरणा की अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाली वाणी ने मुक्तिसाधना के साथ–साथ लोककल्याण की एक नयी धारा प्रवाहित कर दी। युगों से विश्व का आध्यात्मिक मार्गदर्शक रहा भारतवर्ष जब दुर्बलता, हीनता तथा परमुखापेक्षा से ग्रस्त हो गया था तो ऐसे समय में प्राचीन आध्यात्मिक आदर्श के भाव को पुनः देशवासियों के चित्त में प्रतिष्ठित करके इसी आदर्श के आधार पर विवेकानन्द ने फिर से एक नये भारत का निर्माण किया और इसके फलस्वरूप आध्यात्मिकता की वाणी क्रमशः समस्त विश्व में विस्तृत होकर मानवजाति को पूर्णध्वंस के पथ से बचाकर एक नये युग की ओर ले चली। अपने आदर्श को विवेकानन्द ने केवल विचार या वाणी तक सीमित नहीं रखा अपितु अपने कर्मों से भी उसकी सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया। तत्कालीन परिस्थितियों में विभिन्न समाज–सुधारकों के प्रयासों के साथ विवेकानन्द के उपर्युक्त प्रयासों का वर्णन आखिरी अध्याय में किया गया है।

माता–पिता के आशीर्वाद से मेरा यह शोधकार्य पूर्ण हो सका। यह आशीर्वाद केवल मानसिक नहीं था। मेरे अन्दर दर्शन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने से लेकर दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को हृदयङ्गम कराने का पूरा

श्रेय उन्हीं को है। दर्शन की सभी शाखाओं में पारङ्गत मेरे पिताजी प्रो॰सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, ने अद्वैतवेदान्त के जटिल सिद्धान्तों को मुझे बोधगम्य कर दिया। यदि इस शोधप्रबन्ध में कहीं मैं उन सिद्धान्तों का ठीक–ठीक वर्णन नहीं कर सका, तो वह निस्सन्देह मेरी भाषा की कमी रही होगी। मैं अपने शोधप्रबन्धनिर्देशक डॉ॰ रामसेवक दुबे जी का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने समय–समय पर समुचित परामर्श देकर और अपनी विशिष्ट शास्त्रार्थ–शैली से अनेक दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता कर मुझे बारम्बार उपकृत किया है।

मेरे, पुलिस सेवा में होने तथा दूरस्थ ज़िले में नियुक्ति के कारण शोधकार्य में कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ अवश्य आयी थीं, किन्तु संस्कृत विभाग की पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो॰ ज्ञानदेवी श्रीवास्तव तथा वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो॰ मृदुला त्रिपाठी के आशीर्वाद एवं सहयोग से ये कठिनाइयाँ भी दूर हो गयीं, जिसके लिए मैं उनका चिरऋणी हूँ। मैं अन्य विभागीय गुरुजनों– प्रो॰ राजलक्ष्मी वर्मा, प्रो॰ रंजना तिवारी, प्रो॰ हरिदत्त शर्मा, प्रो॰ रामकिशोर शास्त्री, प्रो॰ शङ्करदयाल द्विवेदी, प्रो॰ कौशल किशोर श्रीवास्तव, प्रो॰ मंजुला जायसवाल, प्रो॰ उमाकान्त यादव तथा डॉ॰ सुचित्रा मित्रा का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने स्नातक तथा परास्नातक कक्षाओं में मुझे विभिन्न दर्शनग्रन्थों को पढ़ने और समझने में सहायता दी है। मैं श्री प्रभात कुमार जोशी, आई॰पी॰एस॰ के प्रति भी सादर कृतज्ञ हूँ, जिनके आशीर्वाद तथा प्रोत्साहन के कारण पुलिस–विभाग के गुरुतर दायित्वों के मध्य भी मेरा अनुसन्धान कार्य निरन्तर चलता रहा।

अनुसन्धान–काल के अन्तर्गत रामकृष्णमठ देहरादून के अध्यक्ष स्वामी निर्विकल्पानन्द तथा स्वामी आश्रयानन्द से जो आशीर्वाद, सत्परामर्श तथा प्रेरणा मिलती रही है, उसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ। उन्होंने न सिर्फ स्वामी विवेकानन्द के सिद्धान्तों को समझने में सहायता की, अपितु उनकी बङ्गला भाषा की कृतियों को भी पढ़ने में मेरी सहायता की। यही नहीं, अत्यन्त कृपापूर्वक उन्होंने मुझे मठ के पुस्तकालय का किसी भी समय सदुपयोग कर सकने की सुविधा भी प्रदान की। मैं पुलिस–कार्यालय, देहरादून के आरक्षी हरपाल सिंह, आरक्षी जगबीर सिंह, आरक्षी बैरिस्टर कुमार तथा आरक्षी विपिन जोशी का आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की प्रारम्भिक अवस्था से ही टङ्कण का दायित्व सँभाल रखा था।

असीम श्रीवास्तव

प्रथम अध्याय

संक्षिप्त जीवनवृत्त

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 को कलकत्ता नगर के उत्तर भाग में स्थित सिमला मुहल्ले के गौरमोहनमुखर्जी स्ट्रीट के एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ था। उनका संन्यास से पूर्व का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त पेशे से वकील थे और माता भुवनेश्वरी देवी उदात्तगुणसम्पन्न गृहिणी। उदारता, सहिष्णुता, अतिथि सत्कार, दया, निर्भीकता और सत्य पर अडिग रहना इत्यादि गुण नरेन्द्र ने अपने पारिवारिक संस्कार के रूप में पाया था।

घर पर रामायण, महाभारत या भागवत के किसी न किसी अंश का पाठ प्रतिदिन होने से शिशु नरेन्द्र पर इनका गहरा असर हुआ। बाद में भी उन्होंने अपने पाश्चात्त्य शिष्यों व श्रोताओं को दर्शन के कठिन अंशों को समझाने हेतु इन्हीं ग्रन्थों की प्रकरणानुकूल अनेक कहानियाँ सुनाई थीं। विश्वनाथ दत्त भी उन्हें बाइबिल व दीवान–ए–हाफ़िज़ के उद्धरण समझाते रहते थे।[1] इन कथाओं एवं पारिवारिक संस्कारों ने उनमें सत्यप्रियता, निर्भीकता, उदारता, सहिष्णुता, दया आदि अनेक सद्गुणों का आधान किया था। भिक्षार्थ आने वाले तथा अन्य बहुत से घुमक्कड़ साधुओं को देखकर बालक नरेन्द्र का मन इनकी जीवनशैली तथा गैरिक वस्त्रों के प्रति श्रद्धा से भर उठता था। वह प्रायः संन्यासियों जैसे वस्त्र पहन कर 'शिवोऽहम् शिवोऽहम्' कहते हुए पूरे घर में घूमता था। ध्यान में बैठे साधुओं को देखकर नरेन्द्र ने भी उसी प्रकार ध्यानमग्न होकर बैठना शुरू कर दिया था। वह शीघ्र ही ऐसी

1.'**श्रीरामकृष्णलीलाप्रसङ्ग**' भाग–3, पृ॰सं॰ 70

मनःस्थिति में पहुँच जाता कि उसे बाह्य जगत् में लाने हेतु नानाविध प्रयास करने पड़ते। बचपन में ही ध्यान सिद्ध हो जाने से नरेन्द्र को प्रतिरात्रि सोने के लिए आँखें बन्द करने के उपरान्त भ्रूमध्य में एक उज्ज्वल ज्योति दिखती, जो क्रमशः बढ़ कर सम्पूर्ण शरीर को आवृत कर लेती थी। उनकी चेतना विलुप्त हो जाती और वह निद्रित हो जाते। यह उन्हें इस आसानी से दिखती कि उन्होंने इसे सोने से पूर्व होने वाली सामान्य प्रक्रिया समझ लिया था। वर्षों बाद जब उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस ने उनसे पूछा कि क्या उन्हें सोने से पूर्व आँख बन्द करने पर कोई ज्योति दिखायी पड़ती है तो उन्होंने आश्चर्यपूर्वक पूछा क्या सबको नहीं दिखती?[1]

नरेन्द्र को उनकी माता ने बङ्गला तथा अंग्रेजी का प्रारम्भिक ज्ञान कराया। उनके रिश्तेदार नृसिंहदत्त प्रायः प्रति रात्रि को 'मुग्धबोध' व्याकरण के सूत्रों द्वारा उन्हें देवभाषा संस्कृत पढ़ाया करते थे। विलक्षण स्मरण शक्ति के कारण नरेन्द्र को एक बार पढ़ लेने पर कोई चीज़ कभी भूलती नहीं थी। नरेन्द्र के पिता से मिलने अनेक विद्वान् तथा साहित्यप्रेमी आया करते थे। उनके वार्त्तालाप सुनने तथा कभी–कभी स्वयं भी उसमें हिस्सा लेने से नरेन्द्र को अनेक विषयों तथा ग्रन्थों के बारे में अच्छी जानकारी हो गयी थी।

औपचारिक शिक्षा के साथ–साथ व्यायाम तथा संगीत में भी नरेन्द्र की रुचि थी। व्यायाम आदि से नरेन्द्रनाथ का शरीर अत्यन्त सुगठित, बलशाली एवं तेजस्वी बन गया था। वे अपरिमित शक्तिशाली, एवं नितान्त निर्भय व्यक्तित्व के धनी

---

1. **'God Lived with Them'**, पृ०सं० 19

थे। कुश्ती और क्रिकेट के वे सतत अभ्यासी तथा उत्कृष्ट खिलाड़ी माने जाते थे।[1] नरेन्द्र ने अपने पिता से सङ्गीत की बारीकियाँ व भजन–गीत आदि सीखे। उन्होंने बेनी उस्ताद व अहमद खान से शास्त्रीय गायन तथा पखावज, तबला, हारमोनियम आदि वाद्ययन्त्र बजाना भी सीखा।[2] कालान्तर में उन्होंने सङ्गीत पर *'सङ्गीत कल्पतरु'* नामक एक पुस्तक भी लिखी, जो 1887 ई॰ में प्रकाशित हुई। नरेन्द्र ने औपचारिक शिक्षा के क्रम में 1881 ई॰ में एफ॰ए॰ तथा 1884 ई॰ में बी॰ए॰ की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने कानून पढ़ने हेतु भी प्रवेश लिया था, किन्तु पिता की आकस्मिक मृत्यु होने व घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ने से वह आगे की शिक्षा पूर्ण नहीं कर सके। एफ॰ए॰ की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात्, नरेन्द्र के पिता उनसे विवाह करने के लिये आग्रह करने लगे किन्तु नरेन्द्र तो भक्तराज हनूमान को अपने जीवन का आदर्श मानते हुए बचपन से ही विवाह के घोर विरोधी हो गये थे। अतः उन्होंने पिता की इस आज्ञा को सिरे से नकार दिया। अपने मित्रों से तर्क–वितर्क के दौरान नरेन्द्र प्रायः अपना पक्ष इन्हीं शब्दों में प्रस्तुत करते थे कि *'विवाहित जीवन कितना ही उन्नत, कितना ही पवित्र क्यों न हो, वह मेरा आदर्श नहीं है।'*[3]

ईश्वरसिद्ध गुरु की तलाश कर रहे नरेन्द्र को अपने अध्यापक प्रो॰ विलियम हेस्टी व रिश्तेदार रामचन्द्र दत्त द्वारा महान् आध्यात्मिक विभूति रामकृष्ण परमहंस

---

1. **'विवेकानन्दचरित'**, पृ॰सं॰ 30
2. **Life of Swami Vivekanand,** पृ॰सं॰ 50
3. **'विवेकानन्दचरित'**, पृ॰सं॰ 86

के बारे में जानकारी हुई। नवम्बर 1881 ई॰ में नरेन्द्र को अपने पड़ोसी सुरेन्द्रनाथ मित्र के यहाँ श्रीरामकृष्ण के प्रथम दर्शन हुए।[1] विषयी लोगों के निवासस्थल कलकत्ता में नरेन्द्र के रूप में इतना बड़ा सत्त्वगुणी आधार देखकर श्रीरामकृष्ण उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए और उन्हें दक्षिणेश्वर लाने के लिये परिचितों से आग्रह किया। 1882 ई॰ के प्रारम्भ में नरेन्द्र प्रथम बार दक्षिणेश्वर गये। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें पुरातन ऋषि नारायण का अवतार कहकर उनकी स्तुति की।[2] नरेन्द्र ने उनसे ईश्वर–दर्शन सम्बन्धी वही प्रश्न पूछा जो उन्होंने पूर्व में अनेक विद्वानों व ईश्वरानुरागियों से पूछा था और जिसका उत्तर सदैव नकारात्मक मिलता रहा था। परन्तु रामकृष्ण परमहंस ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि '"हाँ, मैं जैसे तुम लोगों को देख रहा हूँ, उसी तरह ईश्वर को देखता हूँ। ईश्वर को प्रत्येक व्यक्ति देख सकता है और इसी प्रकार उनसे बातचीत कर सकता है, परन्तु ऐसा चाहता कौन है? संसारी जन स्त्री–पुत्र के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं, भोग–विलास–धन आदि के लिए तरसते रहेंगे, परन्तु 'ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ' यह कहकर कौन रोता है? 'उन्हें मैं नहीं पा सका' ऐसा कहकर यदि कोई व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है तो वे अवश्य ही दर्शन देते हैं।"[3] ऐसे वचन सुनकर नरेन्द्र को विश्वास हो गया कि यह सन्त पुरुष अन्य व्यक्तियों की तरह कल्पना या रूपक का सहारा

---

1. '**श्रीरामकृष्णलीलाप्रसङ्ग**' भाग–3, पृ॰सं॰ 50

2. ——वही—— पृ॰सं॰ 54

3. ——वही—— पृ॰सं॰ 55

लेकर व्याख्यान नहीं देते, अपितु यथार्थ में ही सब कुछ त्याग कर शुद्ध मन से ईश्वर को पुकार कर जो प्रत्यक्ष किया है, वही कह रहे हैं।

लगभग एक माह बाद नरेन्द्र पुनः दक्षिणेश्वर गये। रामकृष्ण परमहंस अकेले बैठे हुए थे। उन्होंने पास ही भूमि पर नरेन्द्र को बैठने को कहा। अचानक ही उन्होंने अपने दाहिने पैर से नरेन्द्र का स्पर्श किया। इस चमत्कारी स्पर्श मात्र से नरेन्द्र को अपूर्व अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि वह कमरा, उसकी दीवालें तथा अन्य वस्तुएँ घूमती हुई कहीं विलीन होती जा रही हैं और सारे ब्रह्माण्ड के साथ उनका अपना क्षुद्र 'अहम्' भाव सर्वव्यापी महाशून्य में विलीन हो रहा है। 'अहम्भाव का नाश ही मृत्यु है'– यह सोचकर मृत्यु को निकट देखकर नरेन्द्र घबराहट में पूरी शक्ति लगाकर चिल्ला उठे 'आपने मेरी क्या स्थिति कर डाली? मेरे तो माता– पिता हैं।' रामकृष्ण परमहंस ने हँसते हुए उनकी छाती पर हाथ लगाकर कहा कि 'अच्छा तो फिर अभी रहने देता हूँ'। उनके स्पर्श करते ही वह विचित्र प्रत्यक्ष विलुप्त हो गया।[1]

इस घटना के बाद नरेन्द्र का विश्वास व श्रद्धाभाव रामकृष्ण परमहंस पर क्रमशः दृढ़तर होता गया। धीरे–धीरे उनका ब्रह्मसमाज जाना समाप्त हो गया और दक्षिणेश्वर में आना नियमित हो गया। ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों पर से भी नरेन्द्र की आस्था डिगती गयी और उनका स्थान रामकृष्ण परमहंस द्वारा अनुभूत कराये गये प्रत्यक्ष आध्यात्मिक उपलब्धिजन्य

---

1. **'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसङ्ग'** पृ॰सं॰ 76

ज्ञान ने ले लिया। नरेन्द्र को अद्वैत–धारणा का उत्तम अधिकारी जानकर श्रीरामकृष्ण उन्हें अद्वैत–तत्त्व के प्रति श्रद्धावान् बनाने के लिए प्रयत्न करते थे। उस समय द्वैत उपासना में नियुक्त नरेन्द्र को अद्वैत की शिक्षा देने का अनूठा उपाय श्रीरामकृष्ण ने ढूँढ निकाला। वह नरेन्द्र से अद्वैत वेदान्त के '**अष्टावक्र संहिता**' आदि ग्रन्थों का पाठ करवाने लगे। इस प्रकार से द्वैतनिष्ठ नरेन्द्र धीरे–धीरे अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान् होने लगे। रामकृष्ण परमहंस अपने यहाँ आने वाले विद्वानों तथा धर्मनिष्ठ लोगों से नरेन्द्र की बहस कराते थे। शिक्षा की इन नवीन पद्धतियों से धीरे–धीरे नरेन्द्र के तार्किक मन में अद्वैत के गूढ सिद्धान्त अङ्कित होने लगे। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को अद्वैत वेदान्त के जीवब्रह्मैक्य सम्बन्धी कुछ गम्भीर तथ्य बताए, किन्तु वह उसे ठीक से समझ नहीं सके और किसी अन्य के साथ मिलकर उस सिद्धान्त का परिहास करने लगे। अचानक श्रीरामकृष्ण ने उन्हें स्पर्श किया। श्रीरामकृष्ण के स्पर्श करते ही नरेन्द्र को भावान्तर हुआ और प्रत्येक वस्तु उन्हें ब्रह्ममय दिखने लगी। कुछ दिनों तक यह दशा बनी रही, तब उन्होंने सोचा कि शायद यही अद्वैतज्ञान का प्रत्यक्ष आभास है।[1] नरेन्द्र के अनुसार इसके बाद से कभी उन्हें अद्वैततत्त्व के विषय में सन्देह नहीं हुआ।

सन् 1884 ई॰ में बी॰ए॰ की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त नरेन्द्र के पिता की असामयिक मृत्यु हो गयी। उस समय परिवार की आर्थिक स्थिति अत्यन्त

---

1. '**श्रीरामकृष्णलीलाप्रसङ्ग**' भाग–3, पृ॰सं॰ 121

शोचनीय हो गयी। उनके रिश्तेदारों व मित्रों ने भी मुख मोड़ लिया। नरेन्द्र को नौकरी के लिए दिनभर इधर–उधर भटकना पड़ता। घर में दो वक्त के लिए अन्न जुटाना भी मुश्किल हो गया। एक दिन दिनभर तेज़ बरसात में भीगते हुए नौकरी हेतु भटकते हुए भूख–प्यास से बेहाल नरेन्द्र घर लौटते समय निढाल होकर सड़क के किनारे गिर गये। उन्हें चेतना तक का निश्चित भास न था। अर्द्धचेतनावस्था में तरह–तरह के विचार उठने लगे। अत्यन्त दुर्बलता के कारण वह किसी एक विचार पर स्थिर हो पाने में सक्षम नहीं हो सके। अचानक उन्हें लगा कि कोई दिव्य शक्ति उनके आत्मा के बन्धनों को क्रमशः शिथिल करती जा रही है। ईश्वरीय न्याय तथा दया और कष्ट–सङ्घर्ष के सह–अस्तित्व के सम्बन्ध में जो शङ्का और सन्देह सा उठ रहा था, वह पूर्णतः विनष्ट हो गया है। एक गहन अन्तर्ज्ञान की ज्योति में कष्ट और ग्लानि इत्यादि के सभी गूढ़ आशय प्रकाशित हो गये और वह अपनी अवस्था से पूर्णतः सन्तुष्ट हो गये। अगले ही क्षण उनकी सारी थकान व निराशा मिट गयी तथा मन एक दिव्य आनन्द से आपूरित हो उठा।[1] उन्हें ज्ञात हो गया कि उनका जन्म साधारण लोगों की तरह धनार्जन करने, परिवार का भरण–पोषण करने व सांसारिक सुखों को भोगने के लिए नहीं हुआ है। उन्होंने सांसारिकता त्यागने का निश्चय कर लिया। किन्तु रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें उस समय ऐसा करने से रोक दिया। दैवयोग से उसके बाद नरेन्द्र को आजीविका के अस्थायी साधन मिल गये और किसी प्रकार घर चलने लगा। फिर भी जीवनपर्यन्त

---

1. **'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसङ्ग'** भाग–3, पृ.सं. 178

वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे और उन्होंने वैवाहिक बन्धन से अपने को सर्वथा मुक्त रखा। इसी दौरान एक दिन नरेन्द्र अपने गुरु के कहने पर काली मन्दिर में माँ के विग्रह के समक्ष अपने परिवार के दुःखकष्टादि के निवारणार्थ प्रार्थना करने गये। लेकिन चिन्मयी माँ की अनन्त प्रेम व सौन्दर्य की आधाररूपिणी मूर्ति देखकर लौकिक कामना की बात भूलकर उन्होंने विवेक–वैराग्य ज्ञान और भक्ति का वरदान माँगा। उनके गुरु ने उन्हें तीन बार मन्दिर के अन्दर भेजा किन्तु प्रत्येक बार मन्दिर के अन्दर माँ की मूर्ति देखते ही उन्हें लौकिक कामना भूल जाती और वह ज्ञान–भक्ति लाभ की प्रार्थना करके चले आते। इससे पूर्व ईश्वर के मातृभाव और प्रतीक–प्रतिमा में उपासना का गूढ़ रहस्य उन्हें हृदयङ्गम नहीं हुआ था। किन्तु इस घटना के बाद इस भाव की उपासना का सम्यक् रहस्य उनके हृदय में प्रतिभासित होकर उनका आध्यात्मिक चिन्तन और भी व्यापक हो गया।[1]

श्रीरामकृष्ण के शरीर के अस्वस्थ होने पर उनकी सेवा के साथ–साथ आध्यात्मिक विचार–विमर्श एवं भजनादि कार्य जारी रखने, उनके युवा शिष्यों को सङ्गठित करने तथा उनमें कार्य–विभाजन और पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व युवा नरेन्द्र ने सँभाला। अपने शरीर का अन्त निकट देखकर श्रीरामकृष्ण ने एक दिन नरेन्द्र समेत 12 शिष्यों को गेरुआ वस्त्र, रुद्राक्ष की माला इत्यादि संन्यास की प्रतीक वस्तुएँ देकर उन्हें उनका मार्ग दिखा दिया।[2]

---

1. **'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसङ्ग'** भाग–3, पृ.सं. 182

2. **Life**, Vol.1, पृ.सं. 177

बाद में, अपने शरीरान्त के तीन दिन पूर्व, श्रीरामकृष्ण ने अपनी समस्त शक्तियाँ व सिद्धियाँ अपने अतिप्रिय व सुयोग्य शिष्य नरेन्द्र को सौंप दी।[1] उन्होंने नरेन्द्र को अपनी मातृभूमि के पुनरुत्थान का कार्यभार सौंपा। नरेन्द्र ने बाद में अपने शिष्य शरद को बताया था, "मुझे यहाँ एक महान् उद्देश्य पूर्ण करना है जो मेरे गुरु ने मुझे सौंपा है –'*अपनी मातृभूमि के पुनरुत्थान का लक्ष्य*'। यहाँ आध्यात्मिकता समाप्त होती जा रही है और सर्वत्र भुखमरी छायी हुई है। भारत को जाग्रत् करना होगा, ताकि यह अपनी आध्यात्मिकता से सम्पूर्ण विश्व को आप्यायित कर ले।"[2]

अपने गुरु के शरीरान्त के बाद नरेन्द्र ने वराहनगर के एक जीर्ण–शीर्ण भवन को मठ का रूप देते हुए श्रीरामकृष्ण के युवा शिष्यों को त्याग–वैराग्य से युक्त आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। वह इन्हें गुरु के आदर्शों के अनुरूप बनाना चाहते थे। अतः उन्होंने ऐसे संन्यासियों का सङ्गठन किया, जो भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान में हरसम्भव सहायता कर सकें। जनवरी 1887 ई॰ में इन युवकों ने रामकृष्ण परमहंस की तस्वीर और अवशिष्ट चिन्हों के समक्ष संन्यास लिया। संन्यासग्रहण की प्राचीन परम्परा के अनुसरण में नरेन्द्र ने सभी को नया नाम देते हुए स्वयं के लिए '***विविदिषानन्द***' नाम चुना। जिसे बाद में खेतड़ी के महाराज के अनुरोध पर उन्होंने स्वयं बदल कर '***विवेकानन्द***' कर लिया।[3]

---

1. **Life,** Vol.1 पृ॰सं॰ 604
2. ––वही–– Vol. 2 पृ॰सं॰ 221
3. **'Swami Vivekanand: A Forgotten Chapter of His Life'**, पृ॰सं॰ 56

स्वामी विवेकानन्द मठ में लगभग तीन वर्ष तक रहे। इस दौरान वह अपने परिवार के प्रति दायित्व को ध्यान में रखते हुए प्रायः अपने पैतृक घर भी जाते रहे और अपने रिश्तेदारों द्वारा उस घर पर कब्ज़ा करने पर उसकी रक्षा के लिये उन्होंने न्यायालय में पैरवी भी की। इसके बाद उन्होंने जुलाई 1890 ई॰ में मठ को सुचारु रूप से चलते देखकर देश–भ्रमण का निश्चय किया, ताकि पूरे देश की आर्थिक, सामाजिक व आध्यात्मिक स्थिति की जानकारी हो सके और अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु देशभर में आध्यात्मिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार की जा सके। एक कमण्डलु, एक लाठी तथा दो पुस्तकों –'**गीता**' और '**द इमीटेशन ऑफ क्राइस्ट** (The Imitation of Christ)'– के साथ गेरूआ वस्त्र में स्वामी विवेकानन्द ने संन्यासियों के पारम्परिक कार्य तीर्थ–भ्रमण सरीखी अपनी यात्रा शुरू की। इस क्रम में हिमालय के पवित्र स्थलों, उत्तर भारत, पश्चिम भारत, दक्षिण भारत में भ्रमण के दौरान वह अनेक संन्यासियों, विद्वानों, विचारकों तथा प्रतिष्ठित लोगों से मिले। भारत की गरीबी, अशिक्षा तथा सामाजिक कुसंस्कारों को भी उन्होंने निकटता से देखा। भारतवर्ष भर में बद्धमूल छुआछूत, ऊँचनीच का भेदभाव और विविधविकृतवैषम्य इत्यादि सामाजिक कुरीतियों से उनको महान् क्षोभ हुआ। वे प्रायः अपने सहयोगियों से कहा करते थे '*दोष धर्म का नहीं है, वरन् धर्म के नाम पर धर्म का व्यवसाय करने वाले गुरु–पुरोहितों और पण्डों ने ही समाज पर आधिपत्य फैलाकर समाजजीवन को पङ्गु बनाए रखा है। शत–शत वर्षों के विधिनिषेध के अन्धानुकरण ने समाज में एक ओर जैसे वंश और रक्त की श्रेष्ठता का मिथ्या अभिमान सृष्ट किया है, उसी प्रकार दूसरी ओर उसने हीनताबोध, विभिन्न*

सम्प्रदायों तथा अनेकानेक शाखा–प्रशाखाओं वाले कृत्रिम जाति–विभाग को जन्म दिया है।' [1]

अपने दक्षिण भ्रमण के दौरान 1892 ई॰ के प्रथमार्ध में ही विवेकानन्द को शिकागो में होने वाली धर्ममहासभा के बारे में पता चला। उनके मित्रों तथा अनुयायियों ने उन्हें इस धर्ममहासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने को कहा। यद्यपि उस समय उन्होंने इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया, किन्तु बाद में, (24 से 26 दिसम्बर 1892 ई॰) कन्याकुमारी में तीन दिनों तक एक चट्टान पर बैठकर, भारत तथा उसकी वर्तमान दशा पर विचार करने के बाद और, गुरुमाता के आदेश तथा ईश्वरीय सङ्केत मिलने पर विवेकानन्द ने शिकागो जाने का निश्चय किया । उनके मित्रों तथा अनुयायियों ने इस यात्रा हेतु धन एकत्र करना शुरू किया। फलतः 31 मई 1893 ई॰ को विवेकानन्द ने बम्बई से अमरीका के लिये प्रस्थान किया।[2]

अमरीका में दैवयोग से प्राप्त सहायता, विशेषतः कु॰ केट सैनबोर्न, प्रो॰जे॰एच॰ राइट तथा श्रीमती जार्ज हेल के सहयोग से, विवेकानन्द 11 सितम्बर 1893 ई॰ को धर्म महासभा के मंच पर, विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों के साथ, पहुँच गये। विशाल जनसमूह को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जैसे ही **'अमेरिकी भाइयों एवं बहनों '**[3]

---

1. **'विवेकानन्दचरित'**, पृ॰सं॰ 155
2. **Life,** Vol.1 पृ॰सं॰ 391
3. *वस्तुतः यह सम्बोधन अंग्रेजी भाषा में* 'Sisters and Brothers of America' *था।*

– यह सम्बोधन किया सम्पूर्ण हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा।[1] उत्साहित तथा आनन्दित श्रोताओं के प्रशंसापूर्ण शोर में लगभग दो मिनट तक वक्ता को आगे कुछ बोलने का अवसर ही नहीं मिला। पुनः शान्ति होने पर विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को सभी धर्मों की माता तथा प्राचीनतम धर्म बताते हुए अपना संक्षिप्त व्याख्यान दिया। सिस्टर निवेदिता ने इस भाषण के सम्बन्ध में लिखा था, "जब स्वामी जी ने अपना भाषण शुरू किया, तो विषय था 'हिन्दुओं के धार्मिक विचार'; किन्तु जब उन्होने अन्त किया तब तक हिन्दू धर्म मूर्तिमान् हो चुका था।"[2] लगभग दो सप्ताह तक चली इस धर्ममहासभा में स्वामी विवेकानन्द की ओजस्विनी वाणी, कुशल वक्तृता, अप्रतिम तर्कशक्ति तथा तीक्ष्ण मेधा ने उपस्थित श्रोताओं, विद्वानों तथा धर्मजिज्ञासुओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया। यही नहीं, समाचार–पत्र, पत्रिकाओं आदि के माध्यम से धर्ममहासभा की कार्यवाही तथा विवेकानन्द के व्याख्यानों के देश–विदेश में प्रचार–प्रसार होने पर उनकी यशः पताका अद्भुत धर्मनायक, उद्भट दार्शनिक, महान् सन्त एवं दिव्य युगद्रष्टा के रूप में फहराने लगी।

थियोसोफिस्ट सम्प्रदाय की नेत्री श्रीमती एनी बेसेण्ट ने इस चमत्कारिक घटना का उल्लेख करते हुए 1914 ई॰ के मार्च महीने की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में लिखा है :– महिमामयमूर्ति, गैरिक वस्त्र से भूषित, शिकागो नगर के धूममलिन धूसर–वक्ष पर

---

1. **Life**, Vol.1 पृ॰सं॰ 417
2. **'विवेकानन्द साहित्य'**, भाग– 1, की भूमिका

भारतीय सूर्य की तरह दीप्तिमान्, उन्नतशिर, मर्मभेदीदृष्टिपूर्ण आँखें, चंचल होंठ, मनोहर अङ्गभङ्गी– धर्ममहासभा के प्रतिनिधियों के लिये निर्दिष्ट कमरे में स्वामी विवेकानन्द मेरी आँखों में प्रथम इसी रूप में प्रतिभात हुए थे। .....यह भारतगौरव, राष्ट्र के मुख को उज्ज्वल करने वाले सबसे पुराने धर्म के प्रतिनिधि, दूसरे उपस्थित प्रतिनिधियों में उम्र में सबसे छोटे होने पर भी प्राचीनतम व श्रेष्ठतम सत्य की जीतीजागतीमूर्तिरूपी स्वामीजी दूसरे किसी से भी कम न थे। ....इस अप्रतिद्वन्द्वी प्राच्यप्रचारक की अतुलनीय आध्यात्मिक वार्त्ता की महिमा के सामने वे सभी निश्चय ही अवनत हो गये थे। उनके कण्ठ से निकला हुआ प्रत्येक झङ्कारमय शब्द आग्रहान्वित मन्त्रमुग्धजैसे विराट् जनसमूह के मानसपट पर दृढरूप से अङ्कित हो गया था।

इसके पश्चात् तो लगभग तीन वर्ष तक अमेरिका व यूरोप के प्रमुख नगरों में स्वामी विवेकानन्द के नियतावधिक छोटी–छोटी कक्षाओं का संचालन, लोक व्याख्यान तथा सैद्धान्तिक अभिव्यक्तियों के पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशन का अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम चला। इस अवधि में उनकी राजयोग, कर्मयोग आदि पर पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। साथ ही उन्होंने कुछ प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के विभिन्न अंशों की व्याख्या भी की। उन्होनें शिष्यों, जिज्ञासुओं तथा अनुकर्त्ताओं में भाषणों–सम्भाषणों तथा पत्त्रलेखन के माध्यम से अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत व पुष्ट किया। उन्होंने नवम्बर 1894 ई॰ में 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' **(Vedant society of NewYork)** की स्थापना की।[1]

---

1. **'Swami Vivekanand in West :New Discoveries '** Vol-3, पृ.सं॰ 368

दिसम्बर 1896 ई० में भारत लौटने पर उन्होंने मानव की सेवा तथा उनमें आध्यात्मिकता जगाने हेतु 1 मई 1897 को ' **रामकृष्ण मिशन** 'की स्थापना की।[1] उस दौरान बङ्गाल में फैली भयङ्कर महामारी में स्वामी जी के निर्देशन में मिशन से जुड़े संन्यासियों व ब्रह्मचारियों द्वारा जनसेवा का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया गया। उत्तर भारत के अनेक नगरों में स्वामी जी ने जनता के आध्यत्मिक जागरण हेतु ओजस्वी व्याख्यान दिये । पश्चिमी देशों में उनको प्राप्त सफलता से उत्साहित जनता ने सर्वत्र उनका स्वागत किया। 20 जून 1899 ई० को स्वामी जी पुनः यूरोप तथा अमरीका में स्वयम् अपने द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को देखने गये। वहाँ अपने गुरुभाइयों द्वारा किये जा रहे कार्य की प्रगति से सन्तुष्ट होकर स्वामी जी दिसम्बर 1900 तक भारत वापस आ गये । उन्होंने दिव्यदृष्टि से जान लिया था कि उनके लिए निर्धारित कार्य पूर्ण हो चुका है और आगे का कार्य इन संन्यासियों के माध्यम से ही होना है। अतः उन्होंने बेलूड़ मठ में ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों के क्रियाकलापों तथा अनुशासन पर विशेष ध्यान देना शुरू किया। वह मठ में वेदान्त सम्बन्धी शास्त्रग्रन्थ तथा संस्कृत व्याकरण स्वयं पढ़ाया करते थे।[2]

स्वामी जी ने अपनी एक शिष्या मार्गरेट नोबल (*परवर्ती अभिधान, सिस्टर निवेदिता*) को अमरनाथ यात्रा के समय बताया था कि भगवान् शिव ने उन्हें इच्छा–मृत्यु का वरदान दिया है। और इस जन्म में अपना कार्य पूर्ण होता देख

---

1. **'God Lived with Them'**, पृ०सं० 53

2. **SViW**, Vol-6, पृ०सं० 376

उन्होंने अपने निकटतम शिष्यों को अपने शरीर छोड़ने का पूर्वाभास भी दिया था। अपने शरीरान्त के लगभग दो माह पूर्व उन्होंने अपनी शिष्या कु॰ जोसेफिन मैक्लिऑड से कहा था कि मैं चालीस वर्ष नहीं पूरे कर पाऊँगा।[1] स्वामी सारदानन्द से भी उन्होंने बताया था कि *'अब मैं माँ काली को नहीं देखता, उन्होंने मेरे ऊपर से हाथ खींच लिया है'*। रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि जिस दिन नरेन्द्र जान जाएगा कि वह कौन है, वह अपना शरीर त्याग देगा। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व एक गुरुभाई द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या वह जान गये कि वह कौन है? उन्होंने गम्भीरतापूर्वक 'हाँ ' कहा। अन्ततः इन पूर्वाभासों को सत्य सिद्ध करते हुए, दिग्दिगन्त में अपनी देवोपम, ओजस्विनी वाणी तथा रविरश्मियों से भी प्रखर विचार–सरणि की अमिट छाप छोड़कर, मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में, 4 जुलाई 1902 ई॰ को उन्होंने देहत्याग किया।[2]

उनके द्वारा इस अल्पायु में किये गये कार्य का मूल्याङ्कन उन्हीं के शब्दों में किया जा सकता है। शिलाँग में अस्थमा का दौरा पड़ने पर उन्होंने कहा था कि 'अब (शरीर रहने या ना रहने से) अन्तर ही क्या पड़ता है। मैंने इन्हें 1500 वर्षों के लिये पर्याप्त (आध्यात्मिक आधार) दे दिया है।' देहत्याग से कुछ दिन पूर्व उन्हें यह कहते हुए सुना गया था कि 'तुम लोग क्या समझोगे कि मैंने क्या किया; यदि कोई दूसरा विवेकानन्द होता तो वही समझ सकता था।'[3]

---

1. *'I shall never see forty.'* **Reminiscenes of Swami Vivekanand,** पृ॰सं॰ 242
2. **Life**, Vol. 2 पृ॰सं॰ 655
3. ––वही–– Vol. 2 पृ॰सं॰ 652

वास्तव में, ऐसे महापुरुष के कार्यों के महत्त्व का अनुमान भले ही लगाया जा सकता हो, किन्तु उसका सही मूल्याङ्कन अत्यन्त दुरूह है।

द्वितीय अध्याय

कृतियों का परिचयात्मक विवरण

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु से प्राप्त ज्ञान से न केवल अपने अन्तर्मन को प्रकाशित कर आत्मलाभ किया, अपितु अपनी ओजःपूर्ण वाणी तथा प्रभावशाली लेखनी के माध्यम से अनेकानेक लोगों के लिए मुक्ति का मार्ग भी खोल दिया है। वेद तथा उपनिषद् की तरह विवेकानन्द की कृतियाँ भी बौद्धिक खोज के द्वारा सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं है, प्रत्युत अनुभूति से प्राप्त पराबौद्धिक सत्य को बौद्धिक शब्दावली में व्याख्यायित करने, और जनसामान्य को एक बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा इस अनुभूति को आत्मसात् कराने के लिए मार्गदर्शन करने का प्रयास हैं। उनकी ये संरक्षित कृतियाँ आज भी सच्चे जिज्ञासुओं, धर्म पिपासुओं तथा मुमुक्षुजनों की प्रेरणा और मार्गदर्शन का अक्षय स्रोत बन गयी हैं।

अपने गुरु के सान्निध्य में देख–परख कर स्वामी जी को यह भलीभाँति विदित हो गया था कि ग्रन्थ–प्रणयन की अपेक्षा प्रत्यक्ष सम्बोधन या सम्भाषण अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का अधिक सरल तथा प्रभावशाली माध्यम है। यही कारण है कि उनके दार्शनिक विचार हमें प्रायः भाषण–सम्भाषण आदि के रूप में ही प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उनकी पुस्तकें भी प्रायः अधिकांश या सम्पूर्ण रूप में, भाषणों अथवा कक्षालापों का सङ्कलनमात्र ही हैं।

विवेकानन्द की कृतियों का वर्गीकरण हम अधोलिखित प्रकार से कर सकते हैं–

1. स्वरचित–ग्रन्थ
2. लिपिबद्ध–व्याख्यान
3. पत्र
4. कविताएँ, लिपिबद्ध–वार्त्तालाप इत्यादि।

1. स्वरचित-ग्रन्थ

विवेकानन्द की इच्छा थी कि वह अपने पीछे कुछ ऐसी स्वरचित पुस्तकें छोड़ जाएँ, जो उनके शरीरान्त के पश्चात् मुमुक्षुओं का निर्भ्रान्त मार्गदर्शन कर सकें।[1] इसीलिए उन्होंने अमेरिका में जब राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, तथा ज्ञानयोग पर कक्षाएँ चलाईं, तो अपने शिष्यों को यह निर्देश दिया कि वह इन कक्षालापों को लेखबद्ध कर लें। बाद में, इन सङ्कलित कक्षालापों का उन्होंने यथासम्भव स्वयं या अपने निर्देशन में सम्पादन भी करवाया और पुस्तकों के रूप में इनका प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखीं, किन्तु वह दर्शन या अध्यात्म से सम्बन्धित नहीं हैं।

ग्रन्थों की प्रामाणिक संख्या

विवेकानन्द के नाम से अनेक पुस्तकें तथा पुस्तिकाएँ 'अद्वैत आश्रम', मायावती तथा 'रामकृष्णमठ', धन्तोली, द्वारा प्रकाशित की गयी हैं। किन्तु इनमें से कुछ को ही 'ग्रन्थ' की श्रेणी में रखा जा सकता है। सर्वप्रथम तो ग्रन्थ और लिपिबद्धव्याख्यानों में अन्तर है। स्वामीजी द्वारा लिखित 'सङ्गीत–कल्पतरु', 'प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य', तथा 'परिव्राजक' –यह तीन कृतियाँ निर्विवाद रूप से ग्रन्थ की श्रेणी में आती हैं। अन्य कृतियों में 'कर्मयोग', 'राजयोग', 'भक्तियोग', तथा

---

1. '*..Text books which will be the basis of work when I am gone*' – Vivekanand's Letter to Mrs. Ole Bull, dated December 10, 1895

'ज्ञानयोग' को भी ग्रन्थ कहा जा सकता है। स्वयं स्वामीजी ने इन्हें 'ग्रन्थ' की संज्ञा दी है।[1] उन्होंने इन पुस्तकों में कक्षालापों के सङ्कलन के साथ–साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रकरणानुकूल व्याख्यानों को भी सम्मिलित किया। यही नहीं, ग्रन्थ के रूप में इनके प्रकाशन को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने इनमें आवश्यक संशोधन भी किये। इनमें से 'राजयोग' पुस्तक की भूमिका भी उन्होंने स्वयं लिखी थी। 'कर्मयोग', 'राजयोग', तथा 'भक्तियोग' – इन तीन ग्रन्थों का प्रकाशन स्वामीजी के जीवनकाल में ही हो गया था। जबकि 'ज्ञानयोग' का प्रकाशन उनके मरणोपरान्त 1907 ई॰ में हुआ। यह पुस्तकें व्याख्यानों के लिपिबद्ध प्रकाशन से कुछ अधिक हैं। इनके अध्यायों में एक निश्चित क्रम है तथा विषयवस्तु का क्रमिक प्रतिपादन है।

दूसरी ओर पुस्तक या पुस्तिका के रूप में छपे लिपिबद्ध–व्याख्यान प्रायः एकल ही हैं। 'मेरे गुरुदेव', 'शिकागो वक्तृता', 'मरणोत्तर जीवन' इत्यादि एकल लिपिबद्ध–व्याख्यान निश्चित रूप से 'ग्रन्थ' नहीं हैं। और एकाधिक व्याख्यानों के लिपिबद्ध–संग्रह 'वेदान्त', 'धर्मतत्त्व', 'सरलराजयोग' 'ज्ञानयोग पर प्रवचन' इत्यादि भी 'ग्रन्थ' की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते हैं। यह व्याख्यानों के संग्रहमात्र हैं, जिसके प्रत्येक व्याख्यान आपस में स्वतन्त्र हैं और इनका कोई तार्किक पौर्वापर्य क्रम भी नहीं है। इसलिए इनका परिगणन लिपिबद्ध–व्याख्यानों के अन्तर्गत करना

---

1. *'I have begun to write in earnest, as I want to finish some text-books to form the basis of my work....'* Vivekanand's **Letter to Mrs. Ole Bull,** dated December 10, 1895

ही उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार विवेकानन्द–रचित ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ रखे जा सकते हैं–

(i) सङ्गीत–कल्पतरु,

(ii) परिव्राजक,

(iii) प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य,

(iv) भक्तियोग,

(v) कर्मयोग,

(vi) राजयोग,

(vii) ज्ञानयोग,

वर्गीकरण

विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों के विश्लेषण में सुविधा के लिए उनके द्वारा रचित ग्रन्थों को विषयवस्तु की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

(i) दर्शनप्रधान ग्रन्थ,

(ii) दर्शनेतर विषयों के ग्रन्थ

प्रथमवर्ग में 'कर्मयोग', 'राजयोग', 'भक्तियोग', तथा 'ज्ञानयोग', ग्रन्थ आते हैं, और द्वितीयवर्ग में 'सङ्गीत–कल्पतरु', 'प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य', तथा 'परिव्राजक' ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि विवेकानन्द के ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा के आधार पर वर्गीकरण करने पर भी ग्रन्थों के यही दो वर्ग

बनते हैं। 'कर्मयोग', 'राजयोग', 'भक्तियोग', तथा 'ज्ञानयोग'– इन चारों ग्रन्थों की भाषा अंग्रेजी है, और 'सङ्गीत–कल्पतरु', 'प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य', तथा 'परिव्राजक' ग्रन्थ विवेकानन्द ने अपनी मातृभाषा बङ्गला में लिखे हैं।

ग्रन्थों का कालक्रम

कालक्रम की दृष्टि से विवेकानन्द का प्रथम ग्रन्थ 'सङ्गीत–कल्पतरु' है। इसका प्रकाशन निर्विवाद रूप से 1887 ई॰ में हुआ था।[1] दिसम्बर 1895 ई॰ से फरवरी 1896 ई॰ तक चली कक्षाओं पर आधारित 'कर्मयोग', 'राजयोग', 'भक्तियोग', तथा 'ज्ञानयोग'– इन चारों ग्रन्थों के सम्पादित श्रुतलेख (Edited transcript) मार्च 1896 ई॰ तक तैयार हो चुके थे। इसका प्रमाण हमें विवेकानन्द के पत्र से मिल जाता है, जो उन्होंने 23 मार्च 1896 को अपने शिष्य आलासिंगा को लिखा था[2] – '*चार किताबें तैयार हैं। एक तो छप चुकी है, 'पातंजलसूत्र' के साथ 'राजयोग' पुस्तक छप रही है। 'भक्तियोग' पुस्तक तुम्हारे पास है, और 'ज्ञानयोग' पुस्तक के प्रकाशन की तैयारी चल रही है।*'

इसी आशय का एक पत्र विवेकानन्द ने ई॰ टी॰ स्टर्डी को 29 फरवरी, 1896 को लिखा था[3] :– " *'कर्मयोग' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। 'राजयोग' जो उससे बृहत्तर है, प्रकाशनावस्था में है, और 'ज्ञानयोग' बाद में प्रकाशित होगी।* "

---

1. **Life**, Vol. 1, पृ॰सं॰ 54
2. **वि॰सा॰** भाग 4, पृ॰सं॰ 391
3. **वि॰सा॰** भाग 4, पृ॰सं॰ 387

'कर्मयोग' पुस्तक का प्रकाशन 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' ने कराया था। 'कर्मयोग' पुस्तक के प्रकाशन की निश्चित तिथि हमें सिस्टर देवमाता की डायरी से मिल जाती है, जिसको मेरी लुई बर्क अपने ग्रन्थ में उद्धृत करती हैं[1] :–

"The first evidence that...on Sunday Feb 23, when Swamiji's first book 'Karm-Yoga' was published to the public."

'भक्तियोग' पुस्तक की ट्रांस्क्रिप्ट (transcript) विवेकानन्द ने अपने शिष्य आलासिंगा के पास भेज दी थी, क्योंकि वह इस पुस्तक का प्रकाशन भारत से करवाना चाहते थे।[2] यह पुस्तक 1896 ई॰ में मद्रास से प्रकाशित हुई थी। इसके प्रकाशन की तिथि के निर्धारण में, अक्टूबर 1896 ई॰ में, विवेकानन्द द्वारा आलासिंगा को लिख गया पत्र, सहायक है:–

"I received your Bhakti Yoga and Universal Religion. The Bh[akti] must have a good sale in U.S. .." [3]

'राजयोग' पुस्तक, प्रकाशन के लिए, यद्यपि फरवरी 1896 से ही तैयार थी, फिर भी 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' से इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब हो रहा था। स्वामी विवेकानन्द ने इस पुस्तक के ट्रांस्क्रिप्ट (transcript) की एक प्रति लन्दन में अपने सहयोगी ई॰टी॰ स्टर्डी के पास पढ़ने के लिए

---

1. **SViW**, Vol-3, पृ॰सं॰ 527
2. '*Swamiji had earlier sent his New York articles and classes on bhakti yoga to Alasinga for publication first in the Brahmavadin and then in book form.*' मेरी लुई बर्क, **द्र॰ SViW**, Vol-4, पृ॰सं॰ 196
3. Original letter, **द्र॰ SViW**, Vol-4, पृ॰सं॰ 196

भेजी थी।[1] स्टर्डी ने इस पुस्तक को 'राजयोग' नाम से लन्दन में प्रकाशित करा दिया था। इसके प्रकाशन की निश्चित तिथि तो ज्ञात नहीं है, लेकिन यह निश्चित है कि इसका प्रकाशन जून 1896 के पूर्व हो चुका था क्योंकि इसके बारे में विवेकानन्द ने लन्दन से श्रीमती ओलि बुल को अपने 5 जून, 1896 के पत्र[2] में लिखा था :– '*राजयोग पुस्तक की बहुत बिक्री हो रही है।......*' इस पुस्तक के प्रकाशन को लेकर 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' तथा लन्दन संस्करण के प्रकाशक 'लांगमैन्स ऐण्ड ग्रीन' के मध्य बहुत विवाद रहा। बाद में, 1897 के उत्तरार्द्ध में इस पुस्तक का अमेरिकी संस्करण 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' द्वारा प्रकाशित किया गया। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द, जिन्हें विवेकानन्द ने अपनी अनुपस्थिति में अमेरिका में वेदान्त–शिक्षण का कार्य आगे बढ़ाने के लिए बुलाया था, ने अपनी डायरी में सितम्बर 1897 में लिखा था[3] :–

'*As the Raja Yoga was published by Longmans and Green in London...it was difficult to get the book from London to New York for there was imposed a heavy Customs duty on all foreign publications. For this reason, Swami Vivekananda's American students, headed by Miss Mary Phillips, published an American edition of his Raja Yoga in New York. I made necessary corrections and made a Glossary of Sanskrit words in the text.*'

---

1. '*As my friends have engaged a stenographer (Goodwin), all these class lessons and public lectures are taken down. I intend to send you a copy of each. They may suggest you some ideas.*' विवेकानन्द, ई॰टी॰ स्टर्डी को पत्र, दि. 16 जनवरी,1896
2. **द्र॰–वि०सा०** भाग 4, पृ.सं॰ 406
3. **द्र॰ SViW**, Vol-4, पृ.सं॰ 196, (Swami Abhedananda, Complete Works 10:12).

'ज्ञानयोग' पुस्तक का प्रकाशन 1907 ई॰ में 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' के द्वारा कराया गया था।

'परिव्राजक' तथा 'प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य' की रचना 1900 ई॰ के लगभग हुई थी। स्वामी विवेकानन्द ने इन दोनों पुस्तकों को कलकत्ता से निकलने वाली उद्‌बोधन पत्रिका के लिए लिखा था। 'प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य' पुस्तकाकार में सर्वप्रथम बंगला संवत् 1309 (1902-3 ई॰) में 'कलकत्ता विवेकानन्द समिति' के द्वारा प्रकाशित की गयी।[1] 'परिव्राजक' का पुस्तकाकार में प्रथम प्रकाशन बंगला संवत् 1312 (1905-6 ई॰) में उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा किया गया।[2]

इसप्रकार, प्रकाशन के काल की दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों को निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है:–

(i) सङ्गीत–कल्पतरु,
(ii) कर्मयोग,
(iii) भक्तियोग,
(iv) राजयोग,
(v) प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य,
(vi) परिव्राजक,
(vii) ज्ञानयोग,

---

1. द्रष्टव्य–उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता से 1912 ई॰ में प्रकाशित 'प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य' पुस्तक के चतुर्थ संस्करण की भूमिका।
2. द्रष्टव्य– 'परिव्राजक' (उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1905) की स्वामी सारदानन्द द्वारा लिखित भूमिका।

(i) सङ्गीतकल्पतरु

इस पुस्तक का अधिकांश भाग विवेकानन्द द्वारा सङ्कलित किया गया है और यह वैष्णवचरण बसाक द्वारा पूर्ण की गयी है। इस पुस्तक के परिचय–खण्ड में भारतीय सङ्गीत की दोनों विधाओं –गायन तथा वादन के कला और विज्ञान की गहरी एवं विद्वत्तापूर्ण चर्चा की गयी है। पुस्तक का मुख्य भाग 'सङ्गीत–संग्रह' है, जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं में भजनादि गीतों का संग्रह है। इसके परिशिष्ट भाग में इन भजनों के रचनाकारों का तथ्यपरक विवरण है। कहते हैं कि इस पुस्तक का प्रणयन विवेकानन्द ने किसी ग़रीब प्रकाशक की मदद हेतु किया था।[1]

(ii) प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य

यह ग्रन्थ बंगला साहित्य में उत्कृष्ट गद्य का एक नमूना है। अनेक विद्वानों ने इसकी भाषा–शैली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।[2] इस पुस्तक में पूर्व के देश, मुख्यतः भारत तथा पश्चिम के देशों –अमेरिका व यूरोपीय देशों के आचार–विचार, रहन–सहन, रीति–रिवाज की तुलना की गयी है। पूर्वी और पश्चिमी देशों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, तथा राजनीतिक मान्यताओं में क्या भिन्नता है? इसका

---

1. **Life**, Vol. 1, पृ॰सं॰ 54
2. "*...how colloquial Bengali can appear as a living and forceful language ....you will realize after reading it.*" –'**Patriot Prophet**', में उद्धृत रवीन्द्रनाथ टैगोर की उक्ति, p. 289

कारण क्या है? इसके ऐतिहासिक पहलू क्या हैं? दोनों का एक–दूसरे के प्रति क्या नज़रिया है? इत्यादि बिन्दुओं पर भी इस पुस्तक में विस्तृत चर्चा है। इस पुस्तक में लगभग 59 शीर्षकों में उपर्युक्त बिन्दुओं का समावेश किया गया है।

(iii) परिव्राजक

यह डायरी रूप में लिखा हुआ भ्रमण–वृत्तान्त है। इसमें वर्ष 1900 ई॰ में की गयी विवेकानन्द की पाश्चात्त्य देशों की दूसरी यात्रा के संस्मरण हैं, जो 'उद्बोधन' पत्रिका में प्रकाशनार्थ लिखे गये थे। बंगला–भाषा में लिखा गया यह संस्मरण तथ्यात्मक जानकारी के अलावा सम्बन्धित स्थलों का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है। इसमें यात्रा के दृश्यों, घटनाओं तथा परिस्थितियों के स्पष्ट विवरण के साथ–साथ जहाज़, उसके चालक–दल, तथा यात्रियों के बारे में भी मनोरंजक विवरण दिया गया है। संस्मरण में प्रयुक्त हास्य शैली, विवेकानन्द की लेखनी की इन्द्रधनुषी अनेकरूपता प्रस्तुत करती है। इसकी भाषा साधारण बोलचाल की है। यह पुस्तक विविध विषयों की तथ्यात्मक जानकारी देने के कारण भी अच्छी मानी जाती है।[1]

---

1. " *His incredibly vast fund of knowledge poured out from his fingertips ....with his genius for presenting the essence of any matter in a few colourful and forceful words, which in this case glowed with humour and wit.*" - **Mary Louis Burke, SViW**, vol-5 p.35

(iv) कर्मयोग

अंग्रेजी भाषा में लिखी गयी यह पुस्तक 8 शीर्षकों में विभक्त है। ये इस प्रकार हैं–

1. Karma and it's effect on character
2. Each is Great in His Own Place
3. The Secret of Work
4. What is duty
5. We help ourselves, Not the World
6. Non attachment is complete Self Abnegation
7. Freedom
8. The Ideal of Karmyog

इस पुस्तक का मुख्य विचार बिन्दु यह है कि *फल की इच्छा को त्याग कर अनासक्त भाव से किया गया कर्म बन्धनकारी न होकर मोक्षप्रद होता है*। हमारे कार्यों का हेतु प्रायः स्वार्थपूर्ण रहता है। हमें दिन–प्रतिदिन निःस्वार्थ बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अभ्यास से हम धीरे–धीरे पूर्ण रूप से निःस्वार्थ बन जाएँगे और जैसे ही हम इस अवस्था में पहुँचेंगे, हमारी समस्त शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाएँगी तथा हमारा अन्तर्हित ज्ञान प्रकट हो जाएगा।[1] यही मुक्ति की अवस्था है।

प्रथम अध्याय में बताया गया है कि मानव का चरम लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति है।[2] समस्त ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित है। जैसे–जैसे

---

1. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 10
2. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 3

मन का आवरण हटता जाता है, ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। मन के आवरण को दूर करने के लिये ऐसा कर्म करना चाहिए जो मन के भीतर पूर्व से ही स्थित शक्ति को आविर्भूत कर दे। निःस्वार्थ भाव से किया गया कर्म आत्मसंयम और इच्छाशक्ति में वृद्धि करता है। कार्य और तज्जन्य संस्कारों से बनी मानसिक प्रवृत्तियों की समष्टि ही मनुष्य का चरित्र कहा जाता है।[1] हमें निरन्तर निःस्वार्थ बनने का प्रयत्न करना चाहिए। निःस्वार्थभावना हमारी अन्तःप्रज्ञा को शनैः शनैः प्रकाशोन्मुख करती जाएगी।

द्वितीय अध्याय में बताया गया है कि सत्त्वादि तीन गुणों के मात्रात्मक भेद से व्यक्ति की प्रवृत्ति भी भिन्न–भिन्न होती है। तदनुसार समाज के आदर्श, कर्त्तव्य तथा सदाचार भी भिन्न–भिन्न होते हैं। एक समाज या वर्ग के लिए कोई कर्त्तव्य है, तो दूसरे के लिए कोई दूसरा। इनमें कोई छोटा–बड़ा या अच्छा–बुरा नहीं है, अपितु अपनी–अपनी जगह सभी ठीक हैं।

तृतीय अध्याय में यह विवेचित है कि किसी मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता करना उसकी सबसे बड़ी सहायता है, क्योंकि यह आगामी दुःखों को भी नष्ट कर देती है।[2] इस अध्याय में इस बात पर ज़ोर है कि अनासक्त भाव से किया गया कर्म बन्धनकारी नहीं होता, अतः निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए।

---

1. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 3
2. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 28

चतुर्थ अध्याय में विवेकानन्द कर्त्तव्य की परिभाषा देते हैं कि अपनी सामाजिक अवस्था के अनुरुप एवं हृदय तथा मन को उन्नत बनाने वाले कार्य करना कर्त्तव्य हैं। भिन्न समाज के कर्त्तव्य भिन्न हो सकते हैं, अतः दूसरों के कर्त्तव्य उन्हीं की दृष्टि से देखे जाने चाहिए, अपने मानदण्डों से नहीं।

पाँचवें अध्याय में वर्णित है कि यह हमारा सौभाग्य है कि हमें संसार में कुछ कार्य करने का अवसर मिला है। हममें किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं होना चाहिए, क्योंकि दुराग्रह प्रेम का विरोधी है।[1]

छठें अध्याय का सार है कि प्रत्येक कर्म भला–बुरा दोनों होता है और उसका फल भी अवश्य मिलता है। तो कर्म कैसे किया जाए? विवेकानन्द कहते हैं कि आसक्ति को त्याग कर स्वयं साक्षी के समान तटस्थ रहते हुए कर्म करना चाहिए।

सातवें अध्याय में बताया गया है कि कर्मविधान का अर्थ है कार्य–कारण सम्बन्ध का नियम।[2] यह नियम इस संसार में ही है, इससे परे नहीं। यह संसार मुक्तावस्था से आया है, बन्धन में इसकी अवस्थिति है, और मुक्ति में ही इसका लय है। अतः कार्य–कारण श्रृँखला से बचने के लिए मुक्तिलाभ आवश्यक है। मुक्तिलाभ हेतु दो मार्ग हैं–

---

1. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 55
2. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 68

निवृत्ति का मार्ग एवं प्रवृत्ति का मार्ग।[1] विचारप्रधान निवृत्तिमार्ग कठिन है, किन्तु कर्मप्रधान प्रवृत्तिमार्ग सरल है। कर्मयोग इसी प्रवृत्तिमार्ग का उपाय बताता है। कर्मफ़ल की इच्छा को त्यागकर अनासक्तभाव से कर्म करते हुए मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति ही कर्मयोग का लक्ष्य है।[2]

अन्तिम अध्याय में विवेकानन्द कहते हैं कि समस्त प्रकृति का अन्तिम ध्येय मुक्ति है और यह मुक्ति पूर्ण निःस्वार्थता द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। कर्मयोग निःस्वार्थ कर्म द्वारा मुक्तिलाभ करने की एक विशिष्ट प्रणाली है। कर्मयोगी को किसी धर्ममत के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है।[3] वह चाहे ईश्वर में विश्वास करे या न करे; आत्मा सम्बन्धी विचार करे या न करे; इससे कुछ बनता–बिगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका केवल अपना निःस्वार्थपरता लाभरूप एक विशिष्ट लक्ष्य रहता है, और प्रयत्न से उसकी प्राप्ति करनी होती है। किसी कार्य में यदि थोड़ी सी भी स्वार्थपरता रहे, तो वह मुक्त करने के बदले पैरों में और एक बेड़ी डाल देता है। अतएव समस्त कर्मफलों को त्याग कर अनासक्त हो जाना ही एकमात्र उपाय है।[4]

---

1. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 71
2. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 80
3. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 83
4. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 89

(v) भक्तियोग

इस पुस्तक में भक्तियोग की विषयवस्तु को दो भागों में कुल 20 शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। प्रथम भाग में 10 लेख हैं, जो विवेकानन्द के द्वारा 1895–96 ई॰ में 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के लिए लिखे गये थे। शेष 10 शीर्षक उनके क्रमशः 27 जनवरी, 3 फरवरी, 10 फरवरी, तथा 17 फरवरी, 1896 ई॰ के कक्षालाप हैं, जो आशुलिपि में लेखबद्ध कर बाद में पूर्णलिपि में लिखे गये।[1]

पुस्तक के प्रारम्भ में श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक मन्त्र दिया गया है, जिसमें सर्वशक्तिमान् ईश्वर के प्रति मुमुक्षु की प्रार्थना है। प्रथम अध्याय में भक्ति तथा भक्तियोग के बारे में बताया गया है । निष्कपट भाव से ईश्वर के अन्वेषण को भक्तियोग कहते हैं ।[2] इस अन्वेषण का आरम्भ, मध्य और अन्त प्रेम में होता है । ईश्वर के प्रति एक क्षण की भी प्रेमोन्मत्तता हमारे लिए शाश्वत मुक्ति देने वाली होती है । भक्तियोग को विवेकानन्द चरम लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग मानते हैं । भक्त ब्रह्म के सगुण भाव को ही

---

1. *विवेकानन्द के भक्तियोग कक्षालाप के प्रथम 6 सम्भाषणों को ई॰टी॰स्टर्डी ने लन्दन में* **'Addresses On The Vedant Philosophy, Vol.2 , Bhakti Yog'** *नाम से 1896 में प्रकाशित कराया था। बाद में, 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' की आपत्ति के बाद पुनः इसका प्रकाशन नहीं हुआ। इसी तरह बाद में इन्हीं 6 कक्षालापों को, न्यूयॉर्क में दिये गये 'भक्तियोग' शीर्षक वाले भाषण को जोड़कर, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 1907 में* **'Religion of Love'** *नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी।*

2. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 2

उपास्य के रूप में ग्रहण करता है । यह सगुण भाव ही ईश्वर कहा जाता है।[1] द्वितीय अध्याय में ईश्वर का वर्णन है। तृतीय अध्याय में व्याख्यायित है कि भक्तियोग का उद्देश्य प्रत्यक्षानुभूति है । चतुर्थ अध्याय में गुरु की आवश्यकता क्यों पड़ती है, यह बताया गया है । पंचम अध्याय में गुरु और शिष्य के लक्षणों की चर्चा है, शिष्य के लिए आवश्यक है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञानपिपासा और अध्यवसाय हो।[2] गुरु के लिए आवश्यक है कि वह शास्त्रमर्मज्ञ तथा निष्पाप हो, और उसके कार्य विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों।[3] छठें अध्याय में ईश्वर के नरदेह में अवतार का वर्णन है । सातवें अध्याय में बताया गया है कि सिद्ध गुरु द्वारा शिष्य में आध्यात्मिक ज्ञान का बीजारोपण जिन मन्त्रों से किया जाता है, वे मन्त्र वास्तव में परमपुरुष के खण्ड–खण्ड भावों के वाचक हैं, जबकि 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का वाचक है।[4] आठवें अध्याय में प्रतीकोपासना तथा प्रतिमापूजन का विवेचन है । प्रतीकोपासना का अर्थ है, ब्रह्म के स्थान पर ऐसी किसी वस्तु की उपासना करना, जो कुछ या अधिक अंशों में ब्रह्म के सदृश हो, पर स्वयं साक्षाद् ब्रह्म न हो।[5] प्रतिमा भी एक प्रकार से प्रतीक ही है । नवें अध्याय में बताया गया है कि प्रारम्भ

---

1. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 14
2. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 31
3. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 36
4. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 47
5. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 48

में साधक बिना अन्य देवों की निन्दा किए हुए अपने इष्टदेव पर एकनिष्ठा रखे; धीरे–धीरे उसे स्वयं ही बोध हो जायेगा कि उसका अपना इष्टदेव विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों से पूजित हो रहा है।[1] दसवें अध्याय में भक्ति के साधनों की चर्चा है। विवेकानन्द रामानुज के इस मत से सहमत हैं कि भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से होती है।[2] वह क्रमशः इनकी व्याख्या भी करते हैं।

'भक्तियोग' के द्वितीय खण्ड में भी 10 अध्याय हैं, जो उसी क्रम में हैं और जिनका मुख्य विषय 'पराभक्ति' है । ग्यारहवें अध्याय में बताया गया है कि सब प्रकार की साधनाओं का उद्देश्य है–आत्मशुद्धि। आत्मशुद्धि की सभी साधनाओं में त्याग सर्वश्रेष्ठ है।[3] बारहवें अध्याय में वर्णित है कि किस प्रकार भक्त का वैराग्य प्रेमजन्य होता है। तेरहवें अध्याय में गीता में वर्णित ज्ञानयोग और भक्तियोग की तुलना दर्शायी गयी है। चौदहवें अध्याय में भक्ति की श्रद्धा, प्रीति तथा विरह–इन तीन अवस्थाओं का विवेचन है। पन्द्रहवें अध्याय में सार्वजनीन प्रेम का विवरण है। सोलहवें अध्याय में बताया गया है कि पराविद्या और पराभक्ति दोनों एक हैं। सत्रहवें अध्याय में प्रेम की त्रिकोण से उपमा देते हुये व्याख्या की गयी है। प्रेमरूपी त्रिकोण का पहला कोण यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का क्रय–विक्रय नहीं होता। दूसरा कोण है कि प्रेम में कोई भय नहीं रहता,

---

1. **भक्तियोग**, पृ.सं. 55
2. **भक्तियोग**, पृ.सं. 56
3. **भक्तियोग**, पृ.सं. 64

और तीसरा कोण है कि प्रेम में कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। अठारहवें अध्याय का सार है कि प्रेममय भगवान् स्वयम् अपना प्रमाण है। उन्नीसवें अध्याय में प्रेम के 5 रूपों– शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर की मानवीय विवेचना की गयी है। बीसवें तथा अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में पूर्वकथित बात का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है। प्रेम का धर्म द्वैतवाद से आरम्भ होता है। भक्त व भगवान् भिन्न रहते हैं और प्रेम उन्हें निकट करता है। धीरे–धीरे प्रेमभक्ति से भगवान् भक्त के अधिकाधिक निकट आते हैं और भक्त सारे संसार को भगवान् के प्रति अर्पित कर देता है। अन्त में, चरम अवस्था में वह भगवान् में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाता है और इस सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद तीनों एक ही हैं। इस पुस्तक के माध्यम से विवेकानन्द ने भक्तियोग से जुड़े कई पहलुओं की वैज्ञानिकता सिद्ध करने का प्रयास किया है।

---

1. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 95
2. **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 111

(vi) राजयोग

यह विवेकानन्द द्वारा लिखी गयी एकमात्र ऐसी पुस्तक है, जिसका न केवल उन्होंने सम्पादन किया, अपितु इसकी भूमिका भी लिखी। इसका विषय अष्टाङ्ग योग है, जिसे अन्य योगों की अपेक्षा क्रिया प्रधान होने से राजयोग भी कहा जाता है।

राजयोग चमत्कारों या विश्वास की शक्ति को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु उसका कहना है कि सभी शक्तियाँ अन्यत्र नहीं मनुष्य में ही निहित हैं, बस उन्हें पहचानने तथा जागरित करने की आवश्यकता है। मनुष्य अपनी इस शक्ति को किस प्रकार कुछ क्रियाओं के अभ्यास से पहचान सकता है, और किस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर सकता है– यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

सर्वप्रथम राजयोग का परिचय देते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि राजयोग मनुष्य जाति को स्वानुभूति के परम सत्य तक पहुँचाने का क्रियात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से बना मार्ग प्रस्तुत करता है। वर्तमान समय में जो विज्ञान हैं, उन्हें इसलिए सत्य माना जाता है, क्योंकि अधिकांश लोग अपने दैनिक जीवन में उनके किसी न किसी पहलू की सत्यता का अनुभव करते हैं। अनुभव विज्ञान का आधार है। यही कारण है कि विश्वास और श्रद्धा मात्र पर आधारित धर्म–पन्थ अपनी वैज्ञानिकता नहीं सिद्ध कर पाते। प्रचलित धर्मों का अनुयायी हो जाने मात्र से मनुष्य में धार्मिकता नहीं आ जाती, अपितु योग ही धार्मिक होने का एक मात्र साधन है।

राजयोग यही सिखाता है कि जब तक स्वयं न जानो, किसी की बात पर विश्वास न करो । राजयोग का उद्देश्य है मन की शक्तियों को स्थिर करके उसके अन्तरतम रहस्यों को जानना और फिर उनके आधार पर अपने निष्कर्ष निकालना अर्थात् परम सत्य की अनुभूति करना।[1] राजयोग का मार्ग अपनाने के लिए हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या यहूदी इत्यादि होना आवश्यक नहीं। हम मनुष्य हैं, इतना ही पर्याप्त है।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में विवेकानन्द योग के क्रियात्मक पहलू को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि यह क्रिया 8 चरणों में है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि।[2] विवेकानन्द के अनुसार राजयोग के अध्ययन के लिए थोड़ा समय और सतत अभ्यास चाहिए। इस अभ्यास का एक भाग शारीरिक है, पर मुख्यतः यह मानसिक है। इसमें पहले शरीर को, तदुपरान्त मन को वश में किया जाता है।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय में राजयोग के प्रथम चार अङ्गों –यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम का परिचय है। यम–नियम मन को शुद्ध करने वाले नैतिक साधन हैं, जो योग के आधार बनते हैं।

तृतीय अध्याय में प्राणायाम की विस्तृत व्याख्या है। विवेकानन्द के अनुसार प्राण सृष्टि की अनन्त और सर्वव्यापी

---

1. **वि०सा०** भाग 3 पृ०सं० 41
2. *'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'* - **योगसूत्र**

जीवन–शक्ति है।[1] प्राण ही शारीरिक क्रियाओं, नाड़ियों या विचारशक्ति के रूप में प्रकट होता है। संसार की सभी शक्तियाँ जब अपने पूर्ण रूप में आ जाती हैं। तो उनके समुच्चय को प्राण कहते हैं। प्राणायाम का इसी प्राण के ज्ञान तथा संयतन से तात्पर्य है।[2]

चतुर्थ अध्याय में योग के जटिलतम विज्ञान अर्थात् 'कुण्डलिनी विज्ञान' का परिचय है। किस प्रकार मेरुदण्ड की नाड़ियों इड़ा–पिङ्गला की मध्यवर्तिनी सुषुम्ना के आधार पर स्थित कुण्डलिनी शक्ति प्राणायाम की प्रक्रिया से जाग्रत होकर मेरुदण्डशीर्षवर्ती सहस्रार में पहुँचकर स्थित होती है। इसी अध्याय में विवेकानन्द एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी उद्घाटित करते हैं कि कुण्डलिनी–जागरण ही आत्मानुभूति का एकमात्र–मार्ग है।[3] फिर चाहे हम इसे भक्ति का फल मानें या किसी दैवपुरुष की कृपा। सभी प्रकार की उपासना का जाने अनजाने यही लक्ष्य है। जो मनुष्य यह समझता है कि मेरी प्रार्थनाओं को कोई बाह्य शक्ति सुनकर पूर्ण कर रही है, वह यह नहीं जानता कि यह पूर्णता स्वयम् उसकी प्रकृति से उत्पन्न है। प्रार्थना की मानसिक क्रिया से वह सुप्त कुण्डलिनी की अनन्त शक्ति के एक सूक्ष्म भाग को जगा सका है; जिस शक्ति को हम ईश्वर इत्यादि नाम देते हैं, कुण्डलिनीरूपा वह, अनन्त–आनन्दप्रसूता शक्ति प्रत्येक प्राणी में सुप्त दशा में स्थित है। हम उस तक पहुँचना नहीं जानते।

---

1. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 58, '*प्राणः प्राणमयो वायुर्वायुरात्मा निगद्यते*'- **पद्मपुराण**
2. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 59
3. **वि०सा०** भाग 3 पृ.सं. 76

पाँचवें अध्याय में प्राणायाम करने की प्रविधि बतायी गयी है। छठवें अध्याय में योग के अगले दो अङ्गों अर्थात् प्रत्याहार तथा धारणा की चर्चा है। सातवें अध्याय में अन्तिम दो अङ्गों –ध्यान तथा समाधि का विवरण है। आठवें अध्याय में योग के बारे में कूर्म–पुराण के वचनों का सारांश दिया गया है। पुस्तक के दूसरे भाग में योग के प्राचीनतम उपलब्ध–ग्रन्थ **'पातञ्जलसूत्रों'** का मूल संस्कृतरूप अंग्रेजी अनुवाद के साथ दिया गया है। साथ ही कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों से योग–सम्बन्धी उद्धरण दिये गये हैं।[1]

इस ग्रन्थ में विवेकानन्द ने सर्वप्रथम योगदर्शन का संक्षिप्त परिचय देकर उसके सिद्वान्तों और उसकी अष्टाङ्ग प्रविधि का क्रमशः वर्णन किया है। योग के सिद्धान्तों के पक्ष में, उसकी वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिये प्रारम्भ में ही युक्तियाँ दी गयी है, जो पढने वाले के मन में योग के प्रति विश्वास उत्पन्न करती हैं। योग–सम्बन्धी मान्यताएँ आधुनिक समाज में दर्शन के नाम पर एक प्रागैतिहासिक दुरूहता समझी जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय दर्शन की गूढता को देशकाल की आवश्यकताओं के अनुसार विश्लेषित किया है। योग के अङ्गों विशेषकर प्राणायाम, कुण्डलिनी–विज्ञान जैसी रहस्यमय तथा दुरूह प्रक्रियाओं की सरल तथा वैज्ञानिक रीति से व्याख्या यह प्रदर्शित करती है कि वास्तव में लेखक इन आठों अङ्गों के प्रत्येक सोपान को स्वयम् अनुभूत कर चुका है।

---

1. *इनमें* **श्वेताश्वतरोपनिषद्** *के द्वितीय अध्याय के 8 मन्त्र, शंकराचार्य द्वारा उद्धृत* **याज्ञवल्क्य** *के वचन,* **सांख्यप्रवचनसूत्र** *के 24 सूत्र, तथा* **ब्रह्मसूत्र** *के चतुर्थ अध्याय–प्रथमपाद के 5 सूत्र हैं।*

विवेकानन्द ने अपनी बातें इस अधिकारपूर्ण ढंग से रखी हैं कि पुस्तक पढ़ कर लगता है कि वर्णित तथ्य और सिद्धान्त कोरे आदर्शवाद नहीं हैं। वे केवल दार्शनिक मस्तिष्क की चमत्कारिणी युक्तियाँ नहीं है, प्रत्युत लेखक के आध्यात्मिक अनुभव के चिरस्थायी सत्य हैं। वे हमारी उच्चतम आध्यात्मिक सम्भावनाओं के प्रामाणिक तथ्य हैं, और जो कोई इस सृष्टि के रहस्य की तह तक पहुँचना चाहता है –पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, वह इनकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता।

(vii) <u>ज्ञानयोग</u>

यह ग्रन्थ स्वामी विवेकानन्द के दिसम्बर 1895 ई॰ से फरवरी 1896 ई॰ तक के ज्ञानयोग की उच्चतर कक्षाओं में दिये गये कक्षालापों का संकलन है। पुस्तक के रूप में इसका प्रथम प्रकाशन 1907 ई॰ में 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' द्वारा "**ज्ञानयोग– भाग दो**" के नाम से किया गया था। इससे पूर्व 1902 ई॰ में ज्ञानयोग पर विवेकानन्द के लन्दन के कुछ व्याख्यानों का संग्रह 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क' ने **ज्ञानयोग भाग–1** के नाम से प्रकाशित किया था। किन्तु यह निस्संदेह उन 'चार पाठ्य पुस्तकों' में नहीं हो सकती जिनकी कल्पना 1895–96 में विवेकानन्द ने '**उस सत्र के परिश्रम के फल** के रूप में' की थी। स्पष्ट है कि उनकी चारों पुस्तकें मुख्यतः उस सत्र के कक्षालापों का संकलन ही हैं। इस आधार पर **ज्ञानयोग भाग–2** को ही ज्ञानयोग पर उनकी प्रामाणिक पुस्तक मानना उचित होगा। 1908 ई॰ में इसका एक अन्य संस्करण "उद्बोधन–कार्यालय, कलकत्ता " से **"The Science and Philosophy of Religion"** नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसकी भूमिका स्वामी सारदानन्द ने लिखी थी। 1897 ई॰ में स्वामी सारदानन्द ने जे॰जे॰ गुडविन द्वारा लिपिबद्ध इन कक्षालापों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने हेतु तैयार किया था, किन्तु उस समय इसका प्रकाशन नहीं हो सका था। इस पुस्तक के विलम्ब से प्रकाशित होने के सम्बन्ध में न्यूयॉर्क संस्करण की सम्पादिका सिस्टर देवमाता ने लिखा था " *The purely philosophical character (of these lectures) made it doubtful as to whether they would appeal to the general public ; and for that reason they were not brought out*

in book form at once......"[1]

इस पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द के ज्ञानयोग की उच्चतर कक्षाओं के, 8 कक्षालापों में से 7 संकलित हैं। उनका प्रथम कक्षालाप **"Introduction to Jnanyoga"** उस समय उपलब्ध न होने, अथवा किसी अन्य कारण से इस पुस्तक में शामिल नहीं किया गया था। पुस्तक के "न्यूयॉर्क" और "कोलकाता " दोनों ही संस्करणों में परिचयात्मक प्रथम अध्याय के रूप में स्वामी जी द्वारा 5 जनवरी, 1896 को न्यूयॉर्क में दिये गये व्याख्यान **"The claims of religion ; Its truth and utility"** के मुख्य अंशों को प्रकरणानुकूल होने से शामिल किया गया है।[2] शेष 7 कक्षालापों के शीर्षक निम्नलिखित हैं–

1. Sankhya Cosmology
2. Prakriti and Purush
3. Sankhya and Advait
4. The Free Soul
5. One Existence Appearing as Many
6. Unity of the Self
7. The Highest Ideal of JnanYoga

---

1. द्रष्टव्य– **'Vivekanand in West: New Discoveries', part 3** p.43
2. *उक्त व्याख्यान* **Complete Works** : vol 3 (p 1-5) *में अंग्रेजी में तथा* **विवेकानन्द साहित्य** भाग 4 (पृ.187–191) *में हिन्दी में उसी रूप में छपा है, जैसा कि इस पुस्तक में है।* *पूर्ण व्याख्यान* **Complete Works** : vol 4 (p 201-217) *में उपलब्ध है।*

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विवेकानन्द स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य क्यों ज्ञात जगत् से बाहर अज्ञात के प्रति आकर्षित होता है ? वस्तुतः वह अनन्त के बारे में जिज्ञासा किये बिना नहीं रह सकता।[1] परमज्ञान या पूर्णता प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। सांख्य यदि इस ओर पहला कदम है, तो उसका युक्तिसंगत परिणामरूप वेदान्त लक्ष्य तक पहुँचाने वाला है। [2]

द्वितीय अध्याय में सांख्य सम्मत ब्रह्माण्ड विज्ञान की व्याख्या है। प्रकृति या अव्यक्त मूल है। उससे ही अणु–परमाणु, मन–बुद्धि इत्यादि सभी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं।[3] प्रकृति स्वतः समस्त सृष्टि की रचना करने में समर्थ है। प्राण और आकाश संघटित और पुनस्संघटित होकर शेष तत्त्वों का निर्माण करते हैं। कल्पान्त में सब कुछ प्रलयगत होकर आकाश और प्राण में प्रत्यावर्तन करता है।[4] हम जिन्हें शक्ति और पदार्थ कहते हैं, वे उन वस्तुओं की स्थूल अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनके सूक्ष्म स्वरूप को प्राण व आकाश कहते हैं। समस्त स्थूल पदार्थ सूक्ष्म–तत्त्वों के परिणाम है।[5]

तृतीय अध्याय में सांख्य के सर्वमान्य मनोविज्ञान का परिचय है।

---

1. *'But fortunately we must inquire into the beyond. This present, this expressed, is only one part of that unexpressed. How can this little bit of projection be explained, be understood, without knowing that which is beyond.'* CW- vol 4, pg 204
2. **वि०सा०** भाग 4 पृ.सं. 191
3. **वि०सा०** भाग 4 पृ.सं. 193
4. **वि०सा०** भाग 4 पृ.सं. 194
5. **वि०सा०** भाग 4 पृ.सं. 196

ज्ञान का अर्थ है वस्तुओं की साहचर्य प्राप्ति। जब कोई नया संस्कार पड़ता है, तो उसका मन में पहले से विद्यमान संस्कारों से साहचर्य होता है। यदि व्यक्ति अनुभवविहीन हो तो उसे कोई ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान का वस्तुतः अर्थ *'मन में पहले से विद्यमान साहचर्यों द्वारा नूतन की प्रत्यभिज्ञा–मात्र* है।[1] इसी अध्याय में प्रकृति तथा पुरुष का विवेचन है। प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन। पुरुष के चैतन्य से प्रकृति भी चेतनवत् भासित होती है।[2] प्रकृति, पुरुष पर अपनी प्रतिच्छाया प्रक्षिप्त करती है, परन्तु पुरुष स्वभावतः शुद्ध व निःसंग है।

चतुर्थ अध्याय में सांख्य के पुरुष बहुत्व तथा ईश्वर विषयक धारणा का अद्वैतपरक खण्डन है। सांख्य ईश्वर को अनावश्यक मानता है। विवेकानन्द कहते हैं कि जो सर्वव्यापी आत्मा प्रकृति के समस्त विकारों के परे है, उसे प्रधान नियन्ता 'ईश्वर' कहते हैं। आत्मा और ईश्वर ब्रह्म के ही रूप हैं और वह ब्रह्म अद्वय है।

पाँचवें अध्याय में मुख्यतः द्वैतवाद का खण्डन है।[3] ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है। आत्मा ईश्वर का अंश है। 'माया' नाम्नी शक्ति से यह जगत् प्रपंच फैला है।[4] एकत्व की उपलब्धि के लिये

---

1. **वि०सा०** भाग 4 पृ.सं. 206
2. **वि०सा०** भाग 4 पृ.सं. 209
3. **वि०सा०** भाग 8 पृ.सं. 67
4. **वि०सा०** भाग 8 पृ.सं. 68

साधना की आवश्यकता है।[1] इस साधना के लिये आवश्यक है कि साधक इस जीवन में और परलोक में सब प्रकार के कर्मफल और भोग वासनाओं को त्याग करें। साथ ही, वह शमदमादिषट्सम्पत्तियों से युक्त हो।[2]

षष्ठ अध्याय में यह बताया गया है कि किस प्रकार अद्वितीय ब्रह्म, विविध रूपों में दिखायी पड़ता है। समग्र जगत् में केवल एक सत्ता विद्यमान है।[3] वही आत्मा देह या मन के रूप में उपलब्ध होती है। वह एक सत्ता ही माया के प्रभाव से वैसे ही बहुरूप में भासित होती है, जैसे अज्ञानवश रस्सी में साँप का भ्रम हो जाता है। जब चेतना उच्चतर स्तर पर आ जाती है, तब सभी भ्रम दूर हो जाते हैं और सबके पीछे जो सत्य वस्तु विद्यमान है, वह प्रकाशित होने लगती है। इस अध्याय में विवेकानन्द एक और महत्त्वपूर्ण बात उद्घाटित करते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य की नहीं वरन् मनुष्य ने ईश्वर की सृष्टि अपने प्रतिबिम्ब के रूप में की है।[4] अन्त में, विवेकानन्द अद्वैतज्ञानी की साधना प्रणाली की भी व्याख्या करते हैं। सत्य को पहले सुनना होगा, फिर उस पर मनन करना होगा, उसके पश्चात् उसे निरन्तर दृढ़ करते रहना होगा।[5]

---

1. **वि०सा०** भाग 8 पृ.सं. 77

2. **वि०सा०** भाग 8 पृ.सं. 79

3. **वि०सा०** भाग 6 पृ.सं. 291

4. **वि०सा०** भाग 6 पृ.सं. 295

5. **वि०सा०** भाग 6 पृ.सं. 296

सातवाँ अध्याय मुख्यतः बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण तथा चतुर्थ अध्याय के पंचम ब्राह्मण की व्याख्या है, जिसमें आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है। जो लोग आत्मा का स्वरूप जाने बिना उससे प्रेम करते हैं, उनका प्रेम स्वार्थपरता है। जो लोग आत्मा का परिचय पाकर उससे प्रेम करते हैं, उनका प्रेम मुक्त होता है। किसी वस्तु से कोई उस वस्तु के लिये प्रेम नहीं करता है, किन्तु उसके भीतर जो आत्मा विद्यमान है उसके लिये ही वह उस वस्तु से प्यार करता है। अतएव इस आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करना होगा, मनन करना होगा, निदिध्यासन करना होगा।[1] समस्त पदार्थादि एक ही हैं, जो विभिन्न आकार में प्रकाशित मात्र हो रहे हैं। सकल ध्यानों का चरम लक्ष्य इस एकत्व की उपलब्धि करना है।[2]

अन्तिम अध्याय में जगत् के निमित्त व उपादान कारण की चर्चा करने के उपरान्त विवेकानन्द ज्ञान की प्रक्रिया समझाते हैं। ज्ञान की प्रक्रिया स्पन्दनों के अन्तःसंचार द्वारा होती है। ये स्पन्दन पहले बाह्य इन्द्रियों के पास आते हैं, वहाँ से अन्तरिन्द्रियों में पहुँचते हैं। फिर मन में, मन से बुद्धि में और बुद्धि से आत्मा में।[3] इस विश्व का कोई निरपेक्ष अस्तित्व ही नहीं है, यह सब माया है, मिथ्या है। 'जीव' नामक कोई वस्तु भी नहीं है। यदि है तो केवल अद्वितीय अनन्त सत्ता है।[4] अद्वैत

---

1. वि०सा० भाग 7 पृ.सं. 126
2. वि०सा० भाग 7 पृ.सं. 131
3. वि०सा० भाग 1 पृ.सं. 229
4. वि०सा० भाग 1 पृ.सं. 238

के परमतत्त्व के वर्णन के बाद विवेकानन्द अन्त में ज़ोरदार शब्दों में पुनः द्वैत–विशिष्टाद्वैत–अद्वैत के समन्वय में आस्था व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि सीधे अद्वैत को ग्रहण करना कठिन है, इसलिये द्वैत व विशिष्टाद्वैत की सहायता लेनी चाहिये।[1]

सदियों पहले भारतीय मनीषियों द्वारा अपरोक्षानुभूति के माध्यम से अन्वेषित उच्चतम सत्य की यथासम्भव स्पष्ट सरल तथा समयानुकूल भाषा में दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना ही इस ग्रन्थ के प्रणयन का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है।

---

1. **वि०सा०** भाग 1 पृ.सं. 239

2. लिपिबद्धव्याख्यान

विवेकानन्द की कृतियों का एक बड़ा हिस्सा व्याख्यानों के रूप में ही उपलब्ध है। विवेकानन्द ने मैसाचुसेट्स, अमेरिका, के *एनिन्स्क्वैम यूनीवर्सलिस्ट चर्च* में 27 अगस्त, 1893 को अपना पहला व्याख्यान दिया था। 11 सितम्बर, 1893 को उन्होंने धर्ममहासभा में युगान्तरकारी व्याख्यान दिया, जिसे **शिकागो सम्बोधन** के नाम से जाना जाता है। अब तक के प्राप्त विवरणों के अनुसार उनका अन्तिम व्याख्यान (Public Lecture) 31 मार्च, 1901 को ढाका में हुआ, जिसका शीर्षक था " The Religion We are born in". 1893 से 1901 की इस अवधि में उन्होंने सैकड़ों व्याख्यान दिये। इनमें से लगभग 230 व्याख्यान लिखित रूप में उपलब्ध हैं, जबकि 50 के लगभग व्याख्यानों का समाचारपत्रों या व्यक्तिगत पत्रों में उल्लेख मात्र मिलता है। इसके अतिरिक्त भी विवेकानन्द के अनेक व्याख्यान हुए होंगे, जिनका शोधकर्त्ताओं ने अनुमान तो लगाया है,किन्तु कोई ठोस जानकारी अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी। इन व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने पाश्चात्त्य जगत् के समक्ष भारत की सही तस्वीर प्रकट की है और उसे भारत की आध्यात्मिक धरोहर से परिचित कराते हुए उसके लिए भी वेदान्तसाधना द्वारा मुक्ति का मार्ग खोल दिया है।

विवेकानन्द के लगभग सभी उपलब्ध व्याख्यान 'विवेकानन्द साहित्य' में संकलित किये गये हैं। बाद में प्राप्त हुए कुछ व्याख्यान मेरी लुई बर्क के शोधग्रन्थ में प्रकाशित हैं।[1]

---

1. द्रष्टव्य **Swami Vivekanand In The West**, vol 1-6

विवेकानन्द अपने व्याख्यान कभी लिख कर तैयार नहीं करते थे। वह कोई औपचारिक तैयारी भी नहीं करते थे।[1] उनका कहना था कि अर्द्धस्वप्नावस्था में मानो कोई आकर उन्हें नये भावों तथा नये विषयों के व्याख्यान सुना देता था, जिसे वह प्रायः शब्दशः ही अपने व्याख्यान में सम्मिलित कर लेते थे।[2] उनके प्रारम्भिक व्याख्यानों का संकलन मुख्यतः समाचारपत्रों की रिपोर्टिंग के आधार पर हुआ है।[3]

उनके व्याख्यानों की मुख्य–मुख्य बातें रिपोर्टर्स और कभी–कभी श्रोताओं द्वारा लिख ली जाती थीं। इन्हीं के आधार पर उनके व्याख्यानों को प्रकाशित किया

1- " *As for lectures and so forth, I don't prepare them beforehand. Only one I wrote out, which you have printed. The rest I deliver off-hand, whatever comes to my lips – Gurudev backs me up. I have nothing to do with pen and paper......who will take the trouble of putting things in black and white.*"
--Letter to brother–disciples, 1894, CW-6 p 293,

2. "*अधिक व्याख्यान देते हुए थक जाने पर लगता था कि मानो व्याख्यान के सब विषय समाप्त होने ही वाले हैं। ऐसा अनुमान होता था कि कोई नया भाव नहीं उठेगा।..... ऐसी चिन्ता करते करते तन्द्रा सी आ जाती। उसी अवस्था में सुनने में आता कि जैसे कोई मेरे पास खड़ा हो कर व्याख्यान दे रहा है, और उस भाषण में कितने ही नये भाव तथा नयी बातें हैं– मानो वे सब इस जन्म में कभी मेरे सुनने में या ध्यान में नहीं आयीं। सोकर उठते ही उन सभी बातों का स्मरण कर भाषण में वही बातें कहीं।...... सोते सोते ऐसे व्याख्यान कितनी ही बार सुने। कभी–कभी तो व्याख्यान इतनी जोर से दिये जाते थे कि दूसरे कमरों में भी औरों को भी सुनायी पड़ते थे।*" — वार्त्ता एवं संलाप, **विवेकानन्द साहित्य भाग 6**, पृ.सं. 87

3. द्रष्टव्य **'Swami Vivekanand In The West'**, vol 1

गया। लेकिन विभिन्न संस्करणों में इन व्याख्यानों की शब्दावली तथा स्वरूप में प्राय: संकलनकर्त्ता के अन्तर से अन्तर आ गया है।[1] विवेकानन्द अपने व्याख्यान लेखबद्ध न हो पाने की इस समस्या को समझते थे। लेकिन उनका मानना था कि ईश्वर ही इस समस्या का समाधान करेगा।[2] बाद में, विवेकानन्द के व्याख्यानों तथा कक्षालापों को लेखबद्ध करने के लिये वेदान्त सोसाइटी ने एक नियमित आशुलिपिक रख लिया।[3] जिसके कारण उनके परवर्त्ती व्याख्यान लगभग मूल रूप में ही उपलब्ध हैं।[4]

---

1. *"..a few discrepancies between some passages of swamiji's lectures as given in his* 'Complete Works' *and the corresponding passages as given in this book. Such discrepancies are due to the fact that.... I have quoted from the very first editions of his lectures, which, short of the typed transcripts, come as close to Swamiji's original wording as we can get today."* - Mary L. Burke , **SVIW**- vol 3, pg xii

2. *"I have intense faith in Truth, The Lord will send help and hands to work with me."* **SVIW**- vol 3, pg 336

3. **SVIW**- vol 3, pg 335-336

4. *"It was owing to Goodwin(the stenographer) and his untiring labours that much of* ' The Complete Works of Swami Vivekanand' *had become accesible to the future generation."* - **'Prabuddh Bharat'**, Jan 1999 p 47

3. कविताएँ

विवेकानन्द की कुल 38 पद्य–रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनमें से 36 का संकलन विवेकानन्द साहित्य के नवम खण्ड में है। शेष दो रचनाएँ मेरी लुई बर्क के बृहत् शोधग्रन्थ में उपलब्ध हैं।[1] इन कविताओं में मुख्यतः अद्वैतवेदान्तपरक विचार ही अभिव्यंजित हुए हैं।[2] कुछ कविताएँ भक्तिमिश्रित भी हैं।[3]

---

1. **SVIW** 3/490, 5/130. अब इनका प्रकाशन Complete Works, vol -9 में भी हो चुका है।

2. *There is but One- the Free, the knower, Self!*
   Without a name, without a form or stain
   In Him is Maya dreaming all this dream,
   The Witness, He appears a nature, soul.
   Know thou art That, Sanyasin bold! Say
   "Om Tat Sat, Om!"

   --**The Song of The Sanyasin**, CW-vol 4, p 394

3. *"Perchance a prophet thou-*
   Who knows? Who dares touch
   The depths where Mother hides
   Her silent failless bolts!"

   --**Who Knows How Mother Plays**, CW-vol 5, p 439

पत्र व अन्य

पत्र व्यक्ति के अपने मन के दर्पण के समान होते हैं। जिनमें विचारों का अबाधित प्रवाह हो और आन्तरिक अभिव्यक्ति हो, ऐसे व्यक्तिगत पत्रों के द्वारा किसी व्यक्ति के मन, चरित्र, व्यक्तित्व एवं चिन्तनपद्धति के विकास को अन्य दस्तावेज़ी माध्यमों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। यही कारण है कि विशिष्ट लोगों के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए उनके व्यक्तिगत पत्रों का भी सहारा लिया जाता है। स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं चिन्तन के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री हमें उनके द्वारा लिखे गये पत्रों से मिलती है। विवेकानन्द उत्साही अध्येता तथा अद्‌भुत वक्ता होने के साथ–साथ पत्रलेखन में भी दक्ष थे। वह अपने मित्रों एवं शिष्यों को लम्बे पत्र लिखकर उसके माध्यम से अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने से परहेज़ नहीं करते थे। अधिकतर मित्रों एवं शिष्यों के साथ उनका नियमित पत्रव्यवहार जीवनपर्यन्त चलता रहा। वास्तव में वह पत्र के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति को पसन्द करते थे। उन्होंने पत्रों में वेदान्तादिविषयक विचारों के विश्लेषण के साथ–साथ आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक दिशानिर्देश भी दिये हैं, जो सम्बन्धित व्यक्ति के अलावा भावी पीढ़ियों के लिये भी उतने ही लाभदायक हैं,[1] और शायद इसीलिए अपने इन पत्रों की महत्ता समझते हुए उन्होंने अपने जीवनकाल में ही इन पत्रों को एकत्र कर सुरक्षित रखे जाने का

---

1. *Probably no other of his writings are so charged with apostolic fire as his letters*........................**LIFE** Vol 1 pg522

निर्देश दिया था।[1]

विवेकानन्द द्वारा लिखे गये पत्रों में से लगभग 1000 निजी पत्र उपलब्ध हैं, शेष या तो नष्ट हो गये हैं या अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। 1888 ई॰ से 1902 ई॰ के मध्य लिखे गये इन उपलब्ध पत्रों में से लगभग 785 का प्रकाशन 'विवेकानन्द साहित्य' में कालक्रम से पूर्ण या आंशिक रूप से हो चुका है।[2] शेष सम्भवतः अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

ये पत्र उनके जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में घटित घटनाओं से सम्बन्धित विभिन्न तिथियों व स्थानों का स्पष्ट विवरण देने के साथ–साथ उनके दार्शनिक मतवाद, विचारपद्धति तथा अनेक मतों की समालोचना का दिग्दर्शन कराते हैं। ये उनके आध्यात्मिक जीवन के उतार–चढ़ाव तथा विचारों के संघर्ष को भी बताते हुए उनके जीवन के अनेक पहलुओं को उजागर करते हैं। वह अपने मित्रों, शिष्यों तथा गुरुभाइयों को आध्यात्मिक और सांसारिक दिशानिर्देश पत्र के माध्यम से देते रहे। ख़राब स्वास्थ्य की वजह से जब उन्होंने भाषण देना बन्द कर दिया था, तब भी उनके विचारों का प्रकटन पत्रों के माध्यम से जारी रहा। जिससे उनके विदेश यात्रा के दिनों के तथा जीवन के अन्तिम दिनों के उनके विचार अब तक अविकल रूप में उपलब्ध हैं।

---

1. **Swami Vivekanand: Forgotten Chapter**, pg 4
2. *इनकी कालक्रम से और addressee-wise अलग–अलग तालिका* Complete Works vol-9 *के पृ॰ 549 से 571 में उपलब्ध है। इनकी प्राप्ति का स्रोत भी पृ॰ 574–582 में दिया गया है।*

इन सबके अतिरिक्त विवेकानन्द द्वारा लिखित कुछ निबन्ध, लेख आदि भी मिलते हैं। किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों, व्याख्यानों, पत्रों तथा लेख इत्यादि सभी कृतियों को एक साथ सङ्कलित करके एक शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित करने का कार्य उनके शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द ने प्रारम्भ किया।[1] "**The Complete Works of Swami Vivekanand** " का प्रथम भाग उन्हीं के द्वारा सम्पादित होकर 1907 ई॰ में प्रकाशित हुआ था।[2] स्वामी विवेकानन्द के ही शिष्य स्वामी विरजानन्द ने श्रीमती सेवियर की मदद से Complete Works के अन्य भागों का सम्पादन किया।[3] 1951 ई॰ में अद्वैत आश्रम ने Complete Works का 8वाँ volume निकाला था। बाद में, मेरी लुई बर्क तथा प्रो॰ शङ्करी प्रसाद बसु जैसे शोधकर्त्ताओं के प्रयासों से पर्याप्त मात्रा में विवेकानन्द की नयी रचनाएँ प्रकाश में आयीं। इनको 1997 ई॰ में अद्वैत आश्रम द्वारा Complete Works volume-9 के रूप में प्रकाशित किया गया। विवेकानन्द की यह कृतियाँ अब हिन्दी[4], अंग्रेजी, बङ्गला सहित अनेक भारतीय व विदेशी भाषाओं में उपलब्ध हैं।

---

1. **Prabuddh Bharat**, Jan 1999, pg-72
2. *प्रकाशन का कार्य* **अद्वैत आश्रम, मायावती** *द्वारा हुआ था।*
3. **Prabuddh Bharat**, Jan 1999, pg-72
4. हिन्दी में यह संकलन 'विवेकानन्द साहित्य' नाम से प्रकाशित हुआ है।

कृतियों की शैली

भारतीय मनीषियों की अलौकिक प्रतिभा, अध्यवसाय की प्रबल मनोवृत्ति तथा 19वीं शताब्दी की धर्मप्रवण किन्तु संयत सक्रियता स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व में एकाकार होकर निखर उठी है। उनके विस्तृत श्रवण और गम्भीर मनन ने भी उनकी प्रज्ञा को अतीव प्रखर बना दिया था। फलस्वरूप तत्त्वदर्शन के प्रति उनकी अमन्द जागरूकता ने उनकी लेखनी तथा वाणी को अजस्र एवं सजीव प्रवाह प्रदान किया है। आत्मतेज से ज्योतित उनकी कृतियाँ परतन्त्रता से जर्जर हो चुके भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के निस्सीम गौरव की पुण्य प्रतीक हैं। उनकी कृतियों का लक्ष्य–केन्द्र दर्शनपरायण विद्वद्वर्ग न होकर सर्वसाधारण जनसम्मर्द था। उनके ग्रन्थ, भाषण, कक्षालाप और फुटकललेख इत्यादि भी इसी वर्ग के लिए थे। विवेकानन्द न तो भक्तिभावना में आत्मविभोर भगवद्भक्त थे और न ही खण्डन–मण्डन में कृतसङ्कल्प शुष्क शास्त्रज्ञ। वह एक यथार्थवादी दार्शनिक चिन्तक थे, जो उदीयमान जिज्ञासुओं को सन्मार्ग में ले जाना चाहते थे । उन्होंने तत्त्वविवेचना व दर्शन के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त ही सरल भाषा–शैली में लोगों के समक्ष रखा । उनकी रचनाओं, भाषणों–सम्भाषणों इत्यादि का अध्ययन करने पर हम उनकी अभिव्यक्ति की शैली में कुछ विशेषता पाते हैं।

इन विशेषताओं में सर्वप्रथम है– **भाषा का अधिकारपूर्ण प्रयोग**। विवेकानन्द की कृतियाँ मुख्यतः अंग्रेजी तथा बङ्गला में हैं । इसके अलावा उनके कुछ भाषण व कविताएँ हिन्दी, संस्कृत और फ्रेंच भाषा में हैं। उनके भाषण, चाहे वह किसी भी भाषा में क्यों न हो, सर्वदा ही समीक्षकों को

भाषा–शैली की प्रशंसा करने पर बाध्य करते रहे हैं। शिकागो धर्ममहासभा तथा उसके बाद अमेरिका में दिये गये भाषणों की समीक्षा करते हुए अमेरिकी समाचारपत्रों ने विवेकानन्द के अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार का विशेष उल्लेख किया।[1] उनकी बङ्गला भाषा में लिखी गयी पुस्तक ' **प्राच्य–ओ–पाश्चात्त्य** ' को बङ्गला साहित्य में उच्च स्थान दिया गया है ।

विवेकानन्द की अभिव्यक्ति शैली की दूसरी विशेषता है, **अपने विचारों को सीधे–साधे तथा प्रभावपूर्ण ढंग से रखना**। उनकी अभिव्यक्ति एकदम स्वाभाविक रूप की होती है। उनके भाषण प्रायः संक्षिप्त होते थे। लेकिन कभी–कभी वे किसी विषय पर दो घण्टे से अधिक समय तक भी बोले। किन्तु कभी भी न तो मूल विषय से भटके और न ही विषय का अनावश्यक विस्तार किया। उनके

---

1. *'Vivekanand speaks English easily and correctly..'* -
"Salem Evening News", Sep 1, 1893.

* *'..his knowledge of English is as though it were his mother tongue.'* –
"Chicago Advocate", Sep 28, 1893.

* *'His choice of words are the gems of English Language.* –
"Appeal Avalanche", Jan 16, 1894.

* *'His use of English being perfect as regards choice of words and correctness of grammar and construction.'*-
"Commercial", Jan 17, 1894

भाषणों से मन्त्रमुग्ध श्रोता प्रायः यही कहते थे कि मानो उनके विचार सीधे हृदय से निकलते हों । वह सरल से सरल तरीके से अपनी बात प्रस्तुत करते हैं, और व्यर्थ के वाग्जालों से बचते हैं।[1] उनका कहना था कि जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं, वे भीतर का मर्म खो बैठते हैं। जबकि सच्चे गुरुओं ने बिना शब्दजाल या वाक्चातुर्य–प्रदर्शन के सीधे शब्दों में अच्छी शिक्षा दी है।[2] अद्वैतवेदान्त के गूढ़ सिद्धान्त हों या योग के प्राचीन रहस्य, सभी को वह अपनी विशिष्ट शैली से सुगम और सर्वजनग्राह्य बना देते हैं।

विवेकानन्द की अभिव्यक्ति शैली की तीसरी विशेषता उनकी **उद्धरणप्रियता है**। अध्ययनप्रियता के कारण उन्होंने वेद, उपनिषद्, पुराण तथा विभिन्न लोक साहित्य का पर्याप्त अध्ययन किया था। अध्यवसाय की प्रबल मनोंवृत्ति एवं तीक्ष्ण स्मरणशक्ति से इन ग्रन्थों के अधिकांश भाग उन्हें कण्ठस्थ हो गये थे। वह अपने विचारों के समर्थन में

---

1. *'He presented his faith in all sincerity, speaking slowly and clearly, convincing his hearers by quietness of speech rather than by rapid action. His words were carefully weighed, and speech carried its meaning directly.'* –

"Minneapolis Star", Nov 25, 1893.

'The convincing sincerity of his words and the magnetic power of his personality fascinate all who hear him and have given him the title of 'An Orator of Divine Right'. –**"Ariel"**, Dec 9,1893.

2. **'भक्तियोग'**, पृष्ठ संख्या 33

प्रायः ही वेद, उपनिषद, गीता, ब्रह्मसूत्र, बाइबिल आदि से उद्धरण देते हैं। जब कभी भी किसी कठिन सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं, तो उसको सुग्राह्य बनाने के लिये विषयानुकूल कोई पुराणकथा या किसी महापुरुष के जीवन चरित का कोई प्रेरक अंश अवश्य जोड़ देते हैं। इससे न सिर्फ सिद्धान्त की कठिनता दूर होती है, अपितु उसकी व्यावहारिकता भी सिद्ध हो जाती है। किसी भी बात को तर्क से पुष्ट करने के साथ–साथ उसकी प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए गीता या उपनिषद् की पंक्तियों का उपयोग उनकी शैली का अनिवार्य अङ्ग है।[1] उपनिषदों में उन्हें ईश[2] , तैत्तिरीय[3], ऐतरेय[4], कठ[5], मुण्डक[6], श्वेताश्वतर[7], बृहदारण्यक[8], छान्दोग्य[9] , केन[10] से उद्धरण देना अत्यधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

1. *"I have never quoted anything but the Vedas and Upnishads.."* – विवेकानन्द, **"Master As I Saw Him"** से उद्धृत, Pg. 191
2. द्रष्टव्य –**तर्क और धर्म, विवेकानन्द साहित्य** खण्ड–2, पृष्ठ संख्या 284
3. **ज्ञानयोग पर प्रवचन**, –वही, खण्ड–6, पृष्ठ संख्या 259
4. **गीता** –वही, खण्ड–7, पृष्ठ संख्या 305
5. **भक्तियोग**, पृष्ठ संख्या 70
6. –वही – पृष्ठ संख्या 88
7. **तर्क और धर्म, विवेकानन्द साहित्य** खण्ड–2, पृष्ठ संख्या 284
8. **भक्तियोग**, पृष्ठ संख्या 72
9. **भक्तियोग**, पृष्ठ संख्या 56
10. **उपासक और उपास्य, विवेकानन्द साहित्य** खण्ड–3, पृष्ठ संख्या 220

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत[1], देवीभागवत[2], विष्णुपुराण[3], रामायण[4], महाभारत[5], चाणक्यनीति[6], शुक्रनीति[7], मनुस्मृति[8], शाण्डिल्यसूत्र[9] तथा नीतिशतक[10] के उद्धरण भी यत्र–तत्र देखने को मिल जाते हैं। शङ्कराचार्य के विभिन्न ग्रन्थों व भाष्यों से भी वह प्रायः उद्धरण देते हैं।[11]

वह केवल दार्शनिक या धार्मिक ग्रन्थों का ही समर्थन नहीं लेते, वरन्, कालिदास[12]

---

1. **द्रष्टव्य,** श्रीमद्भागवत– **भक्तियोग**, पृ.सं. 18
2. देवीभागवत– वही– पृ.सं. 88
3. विष्णुपुराण– वही– पृ.सं. 77
4. शाण्डिल्यसूत्र– वही– पृ.सं. 79
5. रामायण– **विवेकानन्द साहित्य** खण्ड–7, पृ.सं. 135
6. महाभारत–वही– खण्ड–1, पृ.सं. 14
7. चाणक्यनीति–वही– खण्ड–7, पृ.सं. 50
8. मनुस्मृति– वही– खण्ड–10, पृ.सं. 52
9. शुक्रनीति– वही– खण्ड–10, पृ.सं. 52
10. नीतिशतक– वही– खण्ड–9, पृ.सं. 135
11. द्रष्टव्य, विवेकचूडामणि– **भक्तियोग**, पृष्ठ संख्या 33
    मोहमुद्गर– **वि.सा.** खण्ड–10, पृ.सं. 55
    ब्रह्मसूत्रभाष्य– **भक्तियोग**, पृ.सं. 50,
    श्वेताश्वतरभाष्य– **वि.सा.** खण्ड–1, पृ.सं. 223,
    छान्दोग्यभाष्य– **भक्तियोग**, पृ.सं. 57
12. द्रष्टव्य, कुमारसम्भव का उद्धरण– **वि.सा.** खण्ड–9, पृ.सं. 271
    शाकुन्तल का उद्धरण – **वि.सा.** खण्ड–6, पृ.सं. 8
    मेघदूत का उद्धरण – **वि.सा.** खण्ड–6, पृ.सं. 17

भवभूति[1], जयदेव[2], कृष्णमिश्र[3], शेक्सपियर[4] तथा मिल्टन[5] जैसे साहित्यिक धुरन्धरों की रचनाओं में भी अपनी बातों का समर्थन ढूँढ़ लेते हैं।

विवेकानन्द की शैली का एक अन्य वैशिष्ट्य है, **तर्कपरायणता** । गहन अध्ययन एवं गम्भीर चिन्तन के कारण उनकी तर्कशक्ति पर्याप्त विकसित थी। वह ऐसी किसी बात को कहकर इतिकर्त्तव्यता का अनुभव नहीं करते, जिसे किसी शास्त्र ने या किसी विशिष्ट आचार्य ने वास्तविक या तात्त्विक मान रखा हो। उस बात को वह तर्क की कसौटी पर अवश्य परखते हैं। उसके सम्बन्ध में अनुमानादि तर्कों के द्वारा पूर्ण निरीक्षण उपस्थित करते हैं और प्रमाणों से पुष्ट होने पर ही तदनुसार उसकी सत्यता को स्वीकार करते हैं। किसी योग–सम्बन्धी विप्रतिपत्ति पर तर्कों के साथ–साथ वह अपने अनुभवों का पुट देकर भी उसे स्पष्ट और निश्चित करते हैं। एक बार किसी तथ्य की सत्यता का निश्चय हो जाने पर वह स्वयम् उसके समर्थन में अकाट्य तर्क देते हैं और समुचित युक्तियों तथा प्रमाणभूत प्रयोगों द्वारा विरुद्ध पक्ष की दलीलों का खण्डन कर उस मत को निरस्त कर देते हैं।

---

1. गीतगोविन्द का उद्धरण – **वि॰सा॰** खण्ड–6, पृ॰सं॰ 17

2. उत्तररामचरित का उद्धरण – सिस्टर निवेदिता को पत्र, दि. 3 नवम्बर ,1897

3. प्रबोधचन्द्रोदय का उद्धरण – **वि॰सा॰** खण्ड–7, पृ॰सं॰ 55

4. As You Like It(2/1) का उद्धरण –**भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 37

5. द्रष्टव्य- **वि॰सा॰** खण्ड–9, पृ॰सं॰ 137 ;

संक्षेप में, उनकी अभिव्यक्ति शैली में संक्षिप्तता, सजीवता, सरलता, सप्रमाणोक्ति, सुबोधता, सुरुचिपूर्णता आदि सभी ऐसे गुण उपस्थित हैं, जिनसे कि उनकी कृतियाँ भारतीय दर्शन में सदा अतीव आदर की दृष्टि से देखी जाएँगी ।

तृतीय अध्याय

कृतियों में उपलब्ध दार्शनिक चिन्तन

दार्शनिक चिन्तन का विकास

विवेकानन्द के दार्शनिक मतवाद का अनुशीलन तथा आलोचन करने से पहले यह जानना ठीक होगा कि इस मतवाद का विकास कैसे हुआ? उनकी विचार–श्रृंखला किन दार्शनिक मतों के सम्पर्क में आयी, किन दार्शनिक विचारों से प्रभावित हुई और किन दार्शनिक विचारों का खण्डन कर सिद्धान्त रूप में परिवर्तित हुई। विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों के विकास –क्रम में मुख्यतः चार चरण हैं–

1. घर पर मिली धार्मिक व नैतिक शिक्षा।
2. पाश्चात्त्य दर्शन
3. ब्राह्म समाज के सिद्धान्त
4. श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रदत्त शिक्षा

बाल्यावस्था में घर पर सुनी हुई पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों की कथाओं के नैतिक व धार्मिक पहलुओं का विवेकानन्द पर बहुत प्रभाव पड़ा। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य – नैतिक जीवन के इन पाँच व्रतों का उन्होंने बचपन में ही वरण कर लिया था और आजीवन इनका पालन करते रहे। भौतिक जीवन की निस्सारता समझते हुए परम सत्य की अनुभूति को उन्होंने अपना लक्ष्य बना लिया। अपनी स्नातक की औपचारिक शिक्षा के दौरान उन्हें पाश्चात्त्य–दर्शन को गहराई से पढ़ने का अवसर मिला। डेकार्ट, ह्यूम, बेन्थम, मिल, स्पिनोज़ा, स्पेन्सर, काण्ट, शॉपेनहावर इत्यादि पाश्चात्त्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों तथा उनकी चिन्तन–शैली का उन्होंने भलीभाँति अध्ययन किया। उन्हें पाश्चात्त्य–दर्शन के मनोविज्ञान, विश्लेषण–

प्रणाली, व तर्कवाद ने बहुत प्रभावित किया। पर शरीर–आत्मा सम्बन्ध, मन–बुद्धि की शक्ति, परम तत्त्व का अस्तित्त्व आदि विषयों पर पाश्चात्त्य–दर्शन के असम्बद्ध विचार उन्हें तर्कहीन लगे। पाश्चात्त्य दार्शनिक शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने में असमर्थ रहे और इसीलिए उन्होंने मन और बुद्धि को असीमित शक्तियों से सम्पन्न मान लिया। विवेकानन्द ने अनुभव किया कि मानव के मन और बुद्धि का क्षेत्र सीमित है। वह उस सीमा से परे के तत्त्वों का किंचित् मात्र अवधारणा करने में असमर्थ है। बुद्धि इस दृश्य जगत् का अनुभव तो कर सकती है, परन्तु इसकी व्याख्या करने में, और इसके मूल में स्थित परम–तत्त्व को प्रकाशित करने में पूर्णतः अशक्त है। ऐसा ही अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में है। वहाँ भी यह दिखता है कि कोई तत्त्व अपनी शक्ति के द्वारा मनुष्य के मन में अहंभाव और तत्सम्बद्ध विविध प्रतीतियाँ उदित करता है, फिर भी उस तत्त्व को मानवमन या बुद्धि नहीं समझ पाती। पाश्चात्त्य दार्शनिक जगन्नियन्ता के अस्तित्त्व व शक्तियों पर भी सन्देह करते हैं और तर्क की सीमाओं में उसे बद्ध न कर पाने के कारण उसे अस्तित्त्वहीन मान लेते हैं। विवेकानन्द को यह धारणा भी त्रुटिपूर्ण लगी। विवेकानन्द ने पाश्चात्त्य–दर्शन की अपूर्णता का अनुभव करते हुए उसकी विश्लेषण प्रणाली तो ग्रहण कर ली, लेकिन उसकी तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को अयौक्तिक माना।

इसके पश्चात् विवेकानन्द उस समय बङ्गाल में ख्यातिलब्ध ब्राह्मसमाज की ओर आकृष्ट हुए और कुछ मित्रों के साथ ब्राह्मसमाज के सदस्य भी बन गये। ब्राह्मसमाज के नवस्थापित 'नवविधानसमाज' के धुरन्धर केशवचन्द्र सेन से अत्यधिक

प्रभावित होने पर भी वे 'साधारणब्राह्मसमाज' के ही सदस्य बने, 'नवविधानसमाज' के नहीं। इसके प्रमुख कारण निम्नवत् थे–

(i) साधारणब्राह्मसमाज 'जातिभेदप्रथा' का प्रबल विरोधी था। यह बात विवेकानन्द को सर्वथा अभीष्ट थी।

(ii) साधारणब्राह्मसमाज धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये जाने का पक्षधर था।यह बात भी विवेकानन्द के मनोनुकूल थी।

(iii) नवविधानसमाज वाले ब्राह्मों का भक्तिभावावेश में रोना और क्रन्दन करना विवेकानन्द को कोरी भावुकता प्रतीत होता था, अतः वे उससे दूर रहने को श्रेयस्कर समझते थे।

ब्राह्मसमाज की मान्यता थी कि सगुण ब्रह्म की उपासना से ही मुक्ति सम्भव है। मानव का कर्त्तव्य है कि निराकार ब्रह्म की उपासना करे। मूर्ति–पूजा का प्रत्येक रूप उनके लिये अग्राह्य था क्योंकि उनकी दृष्टि में निराकार ब्रह्म की मूर्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म की कृति यह लौकिक जगत् उतना ही वास्तविक है, जितना कि स्वयं ब्रह्म। ब्रह्मसमाज की इन मान्यताओं ने विवेकानन्द को द्वैतवादी बना दिया था। उन्होंने ब्रह्मसमाज के अनेक उपासना–गीतों को कण्ठस्थ कर लिया था और प्रार्थना–सभा के समय उन्हें गाया करते थे। मूर्ति–पूजा के वह प्रबल विरोधी हो गये थे, किन्तु ध्यानादि क्रियाओं तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर पर उनकी निष्ठा और बढ़ गयी थी।

तदनन्तर विवेकानन्द के आध्यात्मिक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण

मोड़ आया और वह श्रीरामकृष्ण के शिष्य बने । श्रीरामकृष्ण ने विवेकानन्द को प्रथम दृष्टि में ही अद्वैतवेदान्त का उत्तम अधिकारी जान लिया था। वह जानते थे कि विवेकानन्द अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों को समझकर न सिर्फ शीघ्र आत्मोन्नति कर लेंगे, अपितु दूसरों को भी मुक्ति सुलभ कराने हेतु सच्ची सहायता प्रदान करेंगे। प्रारम्भ में, विवेकानन्द अपनी द्वैतवादी विचारधारा के समर्थन में अपने गुरु से वाद–विवाद करते थे। लेकिन बाद में अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों के अध्ययन व उन पर श्रीरामकृष्ण की सुगम, सरल तथा तर्कपुष्ट व्याख्या के फलस्वरूप अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त विवेकानन्द को हृदयङ्गम होने लगे।[1] धीरे–धीरे विवेकानन्द को यह बोध हो गया कि अद्वैत वेदान्त न सिर्फ बौद्धिक सन्तुष्टि देता है, अपितु यह अन्तर्मन की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्ज्वलित कर जीव को उसके दिव्यरूप का भान कराता है। वह जीवनपर्यन्त अद्वैतवेदान्त के प्रबल समर्थक रहे[2] और अपने भाषणों, सम्भाषणों तथा साक्षात्कारों में अनेकशः स्वयं को अद्वैतवेदान्ती घोषित भी किया है।[3]

इस प्रकार, विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों के आधार का सम्यक् आलोचन कर हम पाते हैं कि विवेकानन्द बहुदेववाद, अदेववाद,

---

1. *"He used generally to teach dualism. As a rule, he never taught Advaitism. But he taught it to me. I had been a dualist before."* **My Master**, CW7- 414
2. द्रष्टव्य– **विवेकानन्द–चरित**, पृ.सं. 351
3. *"It is only the pure Upanishadic religion that I have gone about preaching in the world."* -**From the Diary of a Disciple**, CW6-470

द्वैतवाद के क्रमशः अध्ययन के बाद अद्वैतवाद पर पहुँचे थे। इन दार्शनिक विचारधाराओं की समालोचना कर उन्होंने अन्ततः पारमार्थिक व व्यावहारिक दार्शनिक समस्याओं के समाधान के प्रयोजन से अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों को वर्तमान समाज में व्यावहारिक बनाने हेतु तदनुरूप विचार रखे, जो उनके दार्शनिक चिन्तन का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

विवेकानन्द 'अद्वैतवेदान्त' में सर्वतोभावन निष्ठावान् होने के साथ–साथ भगवान् बुद्ध[1] की 'महाकरुणा' और ईसामसीह[2] की 'अतुलनीय क्षमा' से भी अत्यधिक प्रभावित थे। इसीलिए ब्रह्मज्ञान या जीवब्रह्मैक्यविज्ञान द्वारा सुसम्पाद्य अपने मोक्षलाभ के साथ ही 'जगद्धिताय ' की प्रेरणा से निरन्तर अनुप्राणित रहे। आलमबाज़ार मठ में ब्रह्मचर्य–जीवन बिताने वाले कुछ उत्साही युवकों को संन्यास की दीक्षा देते समय विवेकानन्द ने स्वयं कहा था कि " *'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ' ही संन्यासी का सिद्धान्त है। संन्यास लेकर जो लोग इस उच्च आदर्श को भूल जाते हैं–'वृथैव तस्य जन्म '। दूसरों के हितार्थ प्राण देने के लिए–जीवों के गगनभेदी क्रन्दन को दूर करने के लिए, विधवाओं के आँसू पोंछने के लिए......शास्त्रोपदेशों के द्वारा सभी के इहलौकिक व पारमार्थिक कल्याण के लिए तथा ज्ञान का प्रकाश देकर सभी में सोये हुए ब्रह्मरूपी सिंह को जाग्रत् करने के लिए संसार में संन्यासी का जन्म हुआ है।* "[3]

---

1. '*भगवान् बुद्ध के समान त्यागी महापुरुष पृथ्वी पर और कोई नहीं जन्मा।*' – विवेकानन्द, **वि॰सा॰** खण्ड–6, पृ॰सं॰ 64
2. द्रष्टव्य– **विवेकानन्द–चरित**, पृ॰सं॰ 539
3. द्रष्टव्य– **विवेकानन्द–चरित**, पृ॰सं॰ 357

एक बार अपनी इसी भावभूमि को अभिव्यक्त करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने नाट्यसम्राट् गिरीशचन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा था – "जगत् के कष्टों को दूर करने के लिए–यहाँ तक कि एक व्यक्ति की वेदना को कम करने के लिए मैं सहस्र बार जन्म ग्रहण करने को तैयार हूँ।अपनी मुक्ति मैं नहीं चाहता। मैं प्रत्येक को मुक्त होने के लिए सहायता करना चाहता हूँ।" [1]

---

1. द्रष्टव्य– **विवेकानन्द–चरित**, पृ०सं० 367

दर्शन की आधारभित्ति

स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि समग्र धर्म वेदान्त में निहित है, अर्थात् वेदान्त–दर्शन के तीन क्रमिक स्तरों–द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत, में। ये तीनों स्तर व्यक्ति के आध्यात्मिक उन्नति की तीन क्रमिक अवस्थाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक अवस्था महत्त्वपूर्ण है। यही सार–रूप से धर्म है।[1] भारत के नाना प्रकार के जातीय आचार–व्यवहारों और धर्ममतों में वेदान्त के प्रयोग का ही दूसरा नाम है "हिन्दूधर्म"। यूरोप की जातियों के बारे में इसके पहले स्तर अर्थात् द्वैत का प्रयोग है 'ईसाई धर्म'। सेमेटिक जातियों में इसका ही प्रयोग है 'इस्लाम धर्म'। अद्वैतवाद ही अपनी योगानुभूति के आकार में "बौद्ध–धर्म" हुआ। इन स्थलों में धर्म का अर्थ विवेकानन्द 'वेदान्त' करते हैं। इसका प्रयोग विभिन्न राष्ट्रों के विभिन्न प्रयोजन, परिवेश तथा अन्यान्य अवस्थाओं के साथ विभिन्न रूपों में बदलता ही रहेगा।

यहाँ द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत, तीनों विचारधाराओं की विवेकानन्द द्वारा की गयी व्याख्या दिया जाना उचित होगा। विवेकानन्द के अनुसार द्वैतवाद वह अवस्था है, जिसमें मनुष्य अपने को ईश्वर से शाश्वत रूप में पृथक् मानता

---

1. *'Now I will tell you my discovery. All of religion is contained in the Vedanta, that is, in the three stages of the Vedanta philosophy, the Dvaita, Vishishtadvaita and Advaita; one comes after the other. These are the three stages of spiritual growth in man. Each one is necessary. This is the essential of religion.'* – विवेकानन्द, आलासिंगा को लिखा गया पत्र, दि. 6 मई,1895

है। ईश्वर, मनुष्य तथा प्रकृति तीनों ही पृथक्–पृथक् सत्ताएँ हैं। द्वैतवादी स्वभावतः एक ऐसे सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं, जो सर्वशक्तिमान् है और अपने भक्तों के प्रति विशेष कृपा रखता है।[1] वह भक्तों का उद्धार करता है और नास्तिकों को दण्ड देता है।

धीरे–धीरे द्वैतवादी यह समझने लगता है, कि यदि ईश्वर जगत् का कारण है और जगत् उसका कार्य, तो ईश्वर स्वयं ही जगत् और जीव बन गया है। जीवात्मा उस सम्पूर्ण ईश्वर का अंश–मात्र है। जीवात्मा और प्रकृति ईश्वर के शरीर हैं और ये तीनों मिलकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। यह दार्शनिक विकास का द्वितीय स्तर है, इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं।[2] इसके मतानुयायी मानते हैं कि सभी जीव ईश्वर में हैं, फिर भी जीव–जीव में या जीव तथा ईश्वर में एक निश्चित वैयक्तिकता है, जो भिन्न है भी और नहीं भी है। अर्थात् ईश्वर तथा जीव में स्वगत भेद है, सजातीय या विजातीय नहीं।

दर्शन के उच्चतम स्तर अद्वैत पर पहुँचकर जीवात्मा को बोध होता है कि यह सजातीय–विजातीय–स्वगत भेद तो अविद्याजन्य थे। अविद्या का आवरण दूर होते ही वह अपने ब्रह्मरूप का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार अद्वैतवादी मानते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है। ब्रह्म की "माया" नाम्नी शक्ति से जीवात्मा तथा

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 2, पृ॰सं॰ 96
2. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 8, पृ॰सं॰ 90

जगत् पृथक भासित होते हैं, किन्तु यह मिथ्या है। जीव–जगत् भी ब्रह्म से अभिन्न हैं।

विवेकानन्द मूलतः अद्वैत वेदान्ती थे। लेकिन उन्होंने यह भी अनुभव किया कि व्यावहारिक दृष्टि से द्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद को उपेक्षित करना असम्भव है। अधिकांश साधक तथा जिज्ञासु प्रारम्भ में द्वैत या विशिष्टाद्वैत का ही अवधारण कर सकते हैं। भले ही इस मार्ग की साधना भी उन्हें अद्वैताभिमुख कर चरम लक्ष्य तक पहुँचाए। इसीलिए अद्वैत के साथ–साथ द्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद को भी उन्होंने मान्यता दी और इन विचारधाराओं को अद्वैतवाद तक पहुँचने की महत्वपूर्ण सीढ़ी माना। उन्होंने सर्वत्र इन तीनों विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास किया और उनके सिद्धान्तों का भव्यभवन इन्हीं के सामंजस्य पर विनिर्मित है। यद्यपि तीनों विचारधाराओं के अपने–अपने विशिष्ट सन्देश हैं, अलग–अलग मान्यताएँ हैं, और अनेक प्रसंगों में परिस्फुट मतभेद भी हैं, तथापि मूलाधार की अभिन्नता, प्रयोजन की एकता और सफलता की समानता के कारण विवेकानन्द ने तीनों दार्शनिक विचारधाराओं में एक ही सतत प्रकाशमान् तथा सर्वथा अविरूद्ध सत्य का साक्षात्कार किया है। उनकी दृष्टि में यद्यपि अद्वैतवेदान्त का मार्ग अकेले ही मोक्ष–प्राप्ति के साधन के रूप में अमोघ और पर्याप्त है, तथापि द्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद के साथ अद्वैतवाद का समन्वय, जो उनका दार्शनिक मतवाद कहा जा सकता है– सुगम, सरल, रोचक, और सद्यःफलदायी होने के कारण अधिक श्रेयस्कर है। इस समन्वय के प्रति उनकी निस्सीम आस्था है। दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय वह सर्वत्र इस समन्वय के लिये जागरूक हैं। इस प्रकार से इन सिद्धान्तों की संवलित त्रिवेणी का सङ्गम ही उनके दार्शनिक

मतवाद का केन्द्र बिन्दु है। वेदान्त के इस समन्वयात्मकस्वरूप की प्रतिष्ठा उनके मन–बुद्धि में इतनी प्रबल थी कि वे अपने गुरु रामकृष्णपरमहंस को वे महासमन्वयाचार्य की संज्ञा भी देते हैं।[1]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह कौन सी आवश्यकता, आन्तरिक या बाह्य थी, जिसने विवेकानन्द को इन तीनों विचारधाराओं में समन्वय की दृष्टि रखने को प्रेरित किया। देखा जाए तो तार्किक दृष्टि से सुदृढ़ होने के बावजूद, अद्वैतवाद को समझने में सामान्यजन कठिनाई का अनुभव करते हैं। निराकार ब्रह्म, जगन्मिथ्यात्व तथा जीव–ब्रह्मैक्य आदि की अवधारणा साधारण बुद्धि नहीं कर सकती। उसके लिये तो साधनचतुष्टयसम्पन्नप्रमाता ही अधिकारी है। लेकिन विवेकानन्द का लक्ष्य तो जनसामान्य को जागृत कर उन्हें अद्वैत के लक्ष्य–ब्रह्मानुभूति की ओर अग्रसर करना था। तो फिर इन अनधिकारियों को किस प्रकार अद्वैत के लक्ष्य तक पहुँचाया जाय? यह समस्या विकट थी। दिन रात के चिन्तन का क्रम चला होगा। शास्त्र–पुराण–भाष्यादि बारम्बार टटोले गये होंगे। अन्ततः उन्होंने अपने महासमन्वयाचार्य गुरु का ध्यान किया होगा। गुरु प्रदत्त प्रारम्भिक शिक्षा ध्यान में आयी होगी। विवेकानन्द प्रारम्भ में स्वयं द्वैतवादी थे, अद्वैत के कटु आलोचक। द्वैत का *'सगुण ब्रह्म और उसका उपासक भक्त दोनों अलग हैं'* –यह विचार उनके मन में गहरे से जम

---

1. द्र॰– **विवेकानन्द चरित**, पृ॰सं॰ 430

चुका था। दोनों का अभिन्नत्व तो उनके लिये एक मूर्खतापूर्ण परिकल्पना थी। लेकिन गुरु की शिक्षा ने द्वैतवाद की धारणा को कब अद्वैत में परिवर्तित कर दिया, उन्हें पता ही नहीं चला। जो शास्त्र पहले द्वैतवादी लगते थे, वही अद्वैततत्त्व के प्रतिपादक दिखने लगे। इस प्रकार गुरु के स्मरण ने उनकी समस्या का समाधान कर दिया होगा। जो अद्वैत के अधिकारी नहीं हैं, वे भी द्वैत के माध्यम से विशिष्टाद्वैत की अवस्था में पहुँचेंगे। इस अवस्था से धीरे–धीरे वह अद्वैताभिमुख हो जायेंगे और उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति करेंगे।[1] इस विचार के परिणामस्वरूप विवेकानन्द तीनों धाराओं के समन्वय में कृतसंकल्प हुए।

यह समन्वय इसलिये भी विवेकानन्द को प्रिय लगा क्योंकि यह उनके गुरु के **'सभी पन्थ सत्य हैं'** की मान्यता का पोषण करता था। इससे पूर्व द्वैत–विशिष्टाद्वैत और अद्वैत के आचार्य परस्पर खण्डन–मण्डन में ही रत रहे और अपने सिद्धान्त को सही बताते हुये अन्य सिद्धान्तों की निन्दा तथा आलोचना करते रहे थे। विवेकानन्द ने सर्वप्रथम इनका समन्वय करने का प्रयास किया।[2]

---

1. *'...in 1897, Vivekanand boldly claimed that even the utmost realisations of Dualism and Modified Unism, were but stages on the way to Unism itself; and the final bliss, for all alike, was the mergence in One without a second.'* —सिस्टर निवेदिता, **'The Master as I Saw Him'**, पृ.सं. 200
2. *"It is said that at one of his mid-day classes, a member of his audience asked him why, if this (reconciliation and harmonization of various trends in Vedant) was the truth, it had never before been mentioned by any of the masters....and the great gathering was startled to hear the reply* '- Because I was born for this, and it was left for me to do!' " - सिस्टर निवेदिता, ——वही—— पृ.सं. 201

फिर, विवेकानन्द की दृष्टि में वर्तमान में प्रचलित सभी धर्मों का समायोजन मूल सिद्धान्त के आधार पर इन्हीं तीन विचारधाराओं में हो जाता है। वह ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म को द्वैतवाद के तथा बौद्ध तथा हिन्दूधर्म को अद्वैतवाद के अन्तर्गत रखते हैं। इससे इन तीनों के समन्वय से सभी धर्मों का समन्वय भी हो जाता है।

फिर अद्वैत व्यावहारिक जगत् में द्वैतवाद को अनुचित भी नहीं मानता। क्योंकि जब तक वे समष्टिभाव से न देखकर व्यष्टिभाव से देखते हैं, तब तक उन्हें अवश्य ही 'अनेक' देखना पड़ेगा। यह उनके दृष्टिकोण की अनिवार्यता है। फिर भी, अद्वैतवादी जानते हैं कि द्वैतवादियों के मत में चाहे कितनी भी अपूर्णता क्यों न हो, वे सब उसी एक लक्ष्य की ओर जा रहे हैं।[1]

अन्त में, इस समन्वय से अद्वैतवाद को कोई हानि नहीं होती क्योंकि यह प्रारम्भ से ही अविध्वंसात्मक रहा है। इसकी मान्यता है कि किसी की मति को विचलित मत करो, सभी को उच्च से उच्चतर मार्ग में जाने में सहायता दो।[2] यह प्रचार करने के साहस का गौरव उसे प्राप्त है कि ज्ञानी लोग अज्ञानी तथा कर्म में आसक्त व्यक्तियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें, विद्वान् व्यक्ति को स्वयं युक्त रहकर उन लोगों को सब प्रकार के कर्मों में नियुक्त करना चाहिए।[3] विवेकानन्द अपने तार्किक

1- द्र.– **वि.सा.** भाग–2 पृ.सं. 96

2- *'That is what it says, do not disturb, but help everyone to get higher and higher; include all humanity.'*- **'The Absolute And Manifestation'**, CW पृ.सं. 2:141

3- *'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।'* – **गीता** 3:26

निष्कर्ष पर गीता का समर्थन पाकर ही यह उद्घोषित करते हैं कि यदि हम कोई ऐसा धर्म चाहते हैं, जो सबके लिये उपयोगी हो, तो उसे केवल खण्डशः स्वरूपापन्न न प्रस्तुत करके, धार्मिक विकास के सभी स्तरों में प्रसरणशील रूप में समाहित करना चाहिए।

अद्वैत वेदान्त के अनुबन्धचतुष्टय

अद्वैत–वेदान्त में अधिकारीवाद पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। ब्रह्मसूत्र के प्रायः सभी भाष्यकारों ने **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्र के भाष्य में 'अथ' शब्द का अर्थ *'कतिपय पूर्वापेक्षाओं से युक्त* होने के पश्चात्' किया है।[1] उनका मानना है कि वेदान्त सम्बन्धी विचार तभी फलवान् हो सकता है, जब जिज्ञासु इन पूर्वापेक्षाओं से युक्त हो। साधनचतुष्टयसम्पन्नतारूप पूर्वापेक्षा से युक्त प्रमाता ही वेदान्त साधना का सच्चा अधिकारी है। स्वामी विवेकानन्द का अद्वैतवेदान्त के लिये अधिकारी–विचार बड़ा ही अनोखा है। वे प्रत्येक व्यक्ति को,जाति–लिंग–भेद को दरकिनार करते हुए, ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानते हैं। और इसीलिए वह मुक्ति के लिये ज्ञानयोग के अलावा भक्तियोग, कर्मयोग तथा राजयोग की साधना के मार्ग भी समानरूप से सक्षम मानते हैं।[2]

---

1. *'तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यते इति। उच्यते– नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वं चेति।* **–शङ्कराचार्य**, 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' 1.1.1
   '*कस्य तर्हीदमानन्तर्यमुच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेक शमदमादिसाधनसम्पत् इहामुत्रार्थ फलोपभोगविरागो मुमुक्षुत्वं चेति। एतत् पूर्ववृत्तमेतदानन्तर्यमथशब्देनोच्यते। सत्येतस्मिन् साधनचतुष्टये ब्रह्मजिज्ञासोपपद्यते नान्यथेति।*' – **भास्कर**, 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' 1.1.1
2. *'It is evident then that until we realise ourselves as the Absolute, we cannot attain to deliverance. Yet there are various ways of attaining to this realisation.'* **' Four Paths Of Yoga'**, CW 8:152
   'Jnana, Bhakti, Yoga and Karma -- these are the four paths which lead to salvation .' **CW** 5:414

परम्परागत अद्वैतवेदान्ती सिर्फ ज्ञानयोग की साधना को ही ब्रह्मविद्या का साधन मानते हैं। फलतः अन्य अद्वैतवेदान्तियों के मत में ब्रह्मविद्या के सच्चे अधिकारी वे लोग ही हैं, जो वेदान्तशास्त्र का अर्थबोध कर सकने के लिये उपयोगी शमदमादि–साधन सम्पत्ति से युक्त हों, जो नित्य और अनित्य वस्तु के भेद को समझते हों, इस लोक तथा परलोक के फलों के प्रति आसक्ति छोड़ चुके हों तथा मोक्ष–प्राप्ति की इच्छा रखते हों।

विवेकानन्द ब्रह्मविद्या का अधिकारी तो सभी को मानते हैं, लेकिन मोक्ष–साधना के मार्ग के सापेक्ष अधिकारी–भेद अवश्य करते हैं।[1] यह भेद व्यक्तियों के मानसिक चिन्तन की प्रवृत्ति के आधार पर हैं । व्यक्तियों में साधारणतः चार प्रकार के स्वभाव के लोग होते हैं– बुद्धिवादी, भावुक, रहस्यवादी, तथा कर्मठ । सरलता तथा सद्यःफलप्राप्ति के लिये लोगो को अपने स्वभाव के अनुकूल ही क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग या कर्मयोग का मार्ग चुनना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में इन चारों योगों के समन्वय–रूप का एक पंचम मार्ग भी सम्भव है, जो सभी प्रकार के स्वभाव वाले लोगों के लिए अनुकूल है । इसप्रकार विवेकानन्द के मत में साधनचतुष्टयसम्पन्नप्रमाता होने की अनिवार्यता केवल ज्ञानयोग की साधना के लिये ही है, ब्रह्मविद्या का अधिकारी होने के लिये नहीं।[2]

---

1. *'There are four general types of men -- the rational, the emotional, the mystical, and the worker. For each of these we must provide suitable forms of worship.'* **CW** 5:418
2. *'Who are fit to become Jnana-Yogis? Those who are equipped with these requisites: First, renunciation of all fruits of work and of all enjoyments in this life or another life.'* **'The Free Soul'**, CW 3:17

अद्वैतवेदान्त के शंकरादि आचार्यों की तरह विवेकानन्द भी वेदान्तशास्त्र का **विषय जीवब्रह्मैक्य** मानते हैं । उनकी दृष्टि में अन्य सभी आस्तिक दर्शनों की भाँति वेदान्तशास्त्र का **परमप्रयोजन मोक्षलाभ** ही है । सभी शास्त्रों के समान इसमें भी विषय और शास्त्र का **प्रतिपाद्य–प्रतिपादक सम्बन्ध** है ।

ब्रह्म की अवधारणा

ब्रह्म ही पारमार्थिक रूप से एकमात्र सत्तावान् है। केवल उसी का अस्तित्व है। अन्य हर एक पदार्थ का अस्तित्व उसी मात्रा में है, जिस मात्रा में वह इस सत्सत्ता को प्रतिभासित करता है।[1] ब्रह्म जगत्कारण है। समस्त व्यावहारिक जगत् इसी में उत्पन्न होता है, इसी में जीवित रहता है और इसी में पुनः विलीन हो जाता है।[2] परमार्थ तत्त्व तर्क का विषय नहीं है, वह तो साक्षात् अनुभूति का विषय है। कोई परम तत्त्व है या नहीं,–यह तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि युक्ति दोनों ओर समान है।[3] ब्रह्म का कोई कारण नहीं है। न उसमें दिक् है, न काल और न कारण। ब्रह्म एकमात्र ज्ञाता है। ब्रह्म का विषयीकरण नहीं किया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपने आपको कैसे जान सकता है? ब्रह्म अव्यक्त है। उसकी कल्पना मन से होती है और मन स्वयं एक अभिव्यक्ति है। वह कल्पनातीत है, यही उसकी महिमा है।[4] यह स्वयंप्रकाश है

---

1. *'The only real Existence, which alone is -- everything else exists inasmuch as it reflects that real Existence .'* **CW** 5:432
2. द्र॰– **वि.सा.** भाग 8, पृ.सं. 89
3. *'So the question whether there is a God or not can never be proved by argument, for the arguments are as much on one side as on the other.'* **'Realisation'**, CW 2:163
4. *' The real Existence is without manifestation. We cannot conceive It, because we should have to conceive through the mind, which is itself a manifestation. Its glory is that It is inconceivable.'* **'On Jnana-Yoga'**, CW 5:274

और यह प्रकाश है चेतना का। अन्य प्रत्येक पदार्थ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अन्य पदार्थ उतना ही ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, जितना वह उस सत् के ज्ञान को प्रतिबिम्बित करते हैं। वही एकमात्र आनन्द है, क्योंकि उसमें कोई अभाव नहीं है। ब्रह्म समष्टि और व्यष्टि से परे है और निर्विकार है।[1] ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है, जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं है। वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है। उसके बिना किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं, और जो कुछ भी सत्य है, वह ब्रह्म ही है।

ब्रह्म अखण्ड तथा अविभाज्य है। ब्रह्म का विभाजन या इसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। इसी प्रसङ्ग में विवेकानन्द मुण्डकोपनिषद् के उस कथन का भी स्पष्टीकरण करते हैं, जिसमें कहा गया है कि जैसे एक बृहत् अग्निराशि से हजारों अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से ये सब आत्माएँ निकलती हैं।[2] यहाँ विरोधाभास दिखता है कि ब्रह्म यदि अविभाज्य है तो उसका अंश किस प्रकार हो सकता है। पूर्ण वस्तु कदापि विभक्त हो नहीं सकती। विवेकानन्द इसकी मीमांसा करते

---

1. *'Brahman is beyond both these and is not a conditioned state; it is the only Unit not composed of many units, the principle which runs through all from a cell to God, without which nothing can exist; and whatever is real is that principle, or Brahman.'*- **'Ishvara And Brahman'** CW 5:269-270
2. *'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।'* – **'मुण्डकोपनिषद्'** 2.1.1

हैं कि वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं होता।[1] प्रत्येक आत्मा यथार्थ में ब्रह्म का अंश नहीं है, बल्कि वास्तव में वह अनन्त ब्रह्मरूप ही है। और यह जो उनका बहुत्व कहा जाता है इसका तर्क ऐसा है कि जैसे लाखों लाख जलबिन्दुओं पर सूर्य का प्रतिविम्ब पड़ने पर प्रत्येक जलबिन्दु में पृथक् पृथक् सूर्य दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार ये सब जीवात्माएँ भी ब्रह्म की प्रतिबिम्बरूप हैं, सत्य नहीं हैं। यह प्रकृति के ऊपर प्रक्षिप्त मायामय प्रतिबिम्बमात्र हैं। सतावान् अनन्त ब्रह्म केवल एक है तथा वही विभिन्न रूपों में प्रतीयमान हो रहा है। किन्तु यह भेद–प्रतीति मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2]

ब्रह्म अनादि तथा अनन्त है। वह अनादि है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं हुआ है। वह कार्यकारण श्रृंखला से परे है। ब्रह्म निरवयव है। वह किसी प्रकार के भौतिक तत्त्वों से निर्मित न होने के कारण निश्चय ही अविनाशी है।[3] विनाश उसी का होता है जो तत्त्वों के सङ्घात से निर्मित हो। तत्त्वों का सङ्घात ही रूप प्रदान करता है। जिस वस्तु का रूपाकार होता है, उसका आदि और अन्त भी होता है। कोई वस्तु ऐसी नहीं

---

1. *'There is really no part; that each soul is really not a part of the Infinite, but actually is the Infinite Brahman. There how can there be so many?...... They are simply illusory reflections upon Nature.'* – **'The Free Soul'**, CW 3:7
2. *' There is but one Infinite Being in the universe, and that Being appears as you and I; but this appearance of divisions is after all a delusion.'* – **'The Free Soul'**, CW 3: 8
3. *'The soul is not composed of any materials. It is unity indivisible. Therefore it must be indestructible.'* – **'Soul, Nature, And God'**, CW 2:428

देखी जाती जिसका रूपाकार तो हो, पर आदि–अन्त न हो। ब्रह्म का रूप नहीं है इसलिये वह आदि और अन्त से परे है । इसका अस्तित्व अनादि है। रूप न होने के कारण ही यह सर्वव्यापक है, क्योंकि उन्हीं वस्तुओं का विस्तार सीमित होता है, जिनका कोई रूप हो ।

ब्रह्म अनन्त होने से अद्वितीय भी है।[1] दो अनन्त वस्तुएँ कभी नहीं हो सकती। यदि अनन्त का अंश मानें तो वह भी अनन्त ही होगा। दो अनन्त वस्तुएँ हैं, ऐसा कथन विरोधपूर्ण है, क्योंकि दो वस्तुएँ एक–दूसरे को सीमित करती हैं और फलस्वरूप दोनों ही ससीम हो जाएँगी। अनन्त केवल एक तथा अविभाज्य हो सकता है । ब्रह्म नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण, अपरिणामी तथा अपरिवर्तनीय है।

---

1. '*Infinity cannot be divided, it always remains infinite....the infinite is one and not many, and that one Infinite Soul is reflecting itself through thousands and thousands of mirrors, appearing as so many different souls.*'- **'Soul, Nature, And God'**, CW 2:431

आत्मा की अवधारणा

ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। ब्रह्म और आत्मा पर्यायवाची शब्द हैं। देशकाल का आवरण उसे आत्मा या 'जीवात्मा' बना देता है। जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न ही है, परन्तु देशकालनिमित्त के जाल के भीतर से देखने के कारण वह स्वयं को पृथक् समझने लगता है। जब माया का यह आवरण दूर हो जाता है तो उसे अपने ब्रह्मरूप का पुनः भान हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति तीन तत्त्वों से बना है– शरीर, मन, तथा आत्मा। शरीर आत्मा का बाह्य आवरण है और मन भीतर का। यह (जीव–)आत्मा ही वस्तुतः द्रष्टा और भोक्ता है, तथा शरीर में बैठा–बैठा मन के द्वारा शरीर को संचालित करता है। यह आत्मा मन और शरीर के साथ–साथ, जन्म और मृत्यु के चक्र में घूम रही है। जब समय आता है और उसे सर्वज्ञता तथा पूर्णता प्राप्त होती है, तब यह जन्म–मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है।[1] फिर वह स्वतन्त्र होकर चाहे तो मन या सूक्ष्म शरीर को रख सकती है, अथवा उसका त्याग कर चिरकाल के लिये स्वाधीन और मुक्त रह सकती है।

---

1. *'Atman goes through birth and death, accompanied by the mind, the Sukshma Sharira. And when the time comes that it has attained to all knowledge and manifested itself to perfection, then this going from birth to death ceases for it.'*- **'Vedantism'**, CW 3:127

यह कहना ठीक नहीं है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है, तो सर्वत्र उसका कार्य दृष्टिगोचर होना चाहिए, क्योंकि आत्मा शरीर और मन के माध्यम से ही कार्य करता है। अतः जहाँ शरीर और मन है, वहीं उसका कार्य दृष्टिगोचर होता है।

आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को विवेकानन्द एक उदाहरण[1] के माध्यम से स्पष्ट करते हैं– प्रत्येक आत्मा एक वृत्त है। इसका केन्द्र वहाँ होता है जहाँ शरीर है, और वहीं उसका कार्य प्रकट होता है। हम सर्वव्यापी हैं, यद्यपि हमें ऐसा लगता है कि हम एक ही बिन्दु में केन्द्रित हैं। हमारे उस केन्द्र ने अपने चारों ओर पंचभूतों का एक पिण्ड (शरीर) बना लिया है, जो उसकी अभिव्यक्ति का यन्त्र है। जिसके माध्यम से आत्मा अपने को प्रकट या प्रकाशित करती है, वह शरीर कहलाता है। जब एक शरीर या यन्त्र काम के योग्य नहीं रह जाता तो केन्द्र वहाँ से हटकर पहले की अपेक्षा सूक्ष्मतर अथवा स्थूलतर पंचभूत कणों को एकत्र करके दूसरा शरीर बना लेता है और उसके द्वारा अपना कार्य करता है।

इसी क्रम में विवेकानन्द जीवात्मा तथा परमात्मा की तुलना करते हुए कहते हैं कि जीवात्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, पर जिसका केन्द्र किसी शरीर में है। मृत्यु केन्द्र का स्थानान्तर मात्र है। परमात्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है और जिसका केन्द्र सर्वत्र है। जब जीवात्मा इस ससीम केन्द्र से बाहर निकलने में समर्थ होगी, तभी

---

1. द्र०– **वि०सा०** भाग 6, पृ०सं० 242

परमात्मा की—अपने वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि कर सकेगी।[1]

आत्मा न कभी आती है, न जाती है। यह न तो कभी जन्म लेती है और न कभी मरती है। प्रकृति ही आत्मा के सम्मुख गतिशील है और इस गति की छाया आत्मा पर पडती रहती है। भ्रमवश आत्मा सोचती है कि प्रकृति नहीं बल्कि वही गतिशील है। जब तक आत्मा ऐसा सोचती रहती है। तब तक वह बन्धन में रहती है किन्तु जब उसे यह पता चल जाता है कि वह सर्वव्यापक है तो वह मुक्ति का अनुभव करती है। जब तक आत्मा बन्धन में रहती है, उसे जीव कहते हैं । आत्मा का आना जाना तो समझने की सुविधा के लिये कहा जाता है।[2]

आत्मा लिंगभेदरहित है।[3] आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुष है या स्त्री है। यह स्त्री और पुरुष

---

1. *'The soul is a circle whose circumference is nowhere (limitless), but whose centre is in some body. Death is but a change of centre. God is a circle whose circumference is nowhere, and whose centre is everywhere. When we can get out of the limited centre of body, we shall realise God, our true Self.'*- **'On Jnana-Yoga'**, CW 5:271
2. *'The Atman in bondage is called Jiva. Thus you see that when it is said that the Atman comes and goes, it is said only for facility of understanding, just as for convenience in studying astronomy you are asked to suppose that the sun moves round the earth, though such is not the case. So the Jiva, the soul, comes to higher or lower states.'* – **'The Atman: Its Bondage And Freedom'** , CW 2:258
3. *'The soul is also sexless; we cannot say of the Atman that it is a man or a woman. Sex belongs to the body alone.'*- **'VEDANTISM'** , CW 3:128

का भेद तो केवल देह के सम्बन्ध में है। अतएव आत्मा पर स्त्री–पुरुष के भेद का आरोप करना केवल भ्रम है। आत्मा की आयु का भी निर्देश नहीं किया जा सकता। वह पुरातन सदा ही समस्वरूप में वर्तमान है। आत्मा सिर्फ मनुष्य शरीर में ही नहीं बल्कि पशु के शरीर में भी रहती है। संस्कारों के कारण यह एक से दूसरा रूप या स्तर बदलती रहती है। किन्तु जब यह मनुष्य के रूप में उच्चतम स्तर पर रहती है और मुक्ति के लिए सक्षम प्रयत्न करती है, तभी उसे मुक्ति मिल पाती है।[1]

आत्मा की सृष्टि नहीं होती। उसका कोई कारण नहीं है। ऐसा समय कभी नहीं था, जब उसका अस्तित्व न रहा हो। क्योंकि जब मन में आत्मा की शक्ति प्रतिबिम्बित होती है और मन चिन्तन कार्य में लग जाता है, तभी काल की उत्पत्ति होती है। यदि कभी आत्मा नहीं थी, तो विचार भी नहीं था, और विचार न रहने से काल भी नहीं रह सकता। अतएव जब काल आत्मा में अवस्थित है, तब भला हम यह कैसे कह सकते हैं कि आत्मा काल में अवस्थित है?

विवेकानन्द आत्मा की अनेकता या बहुत्व के विचार को ठीक नहीं मानते । इसकी उपपत्ति वह देते हैं कि काल का आरम्भ मन से होता है और देश भी मन के अन्तर्गत है अतएव देश–काल–निमित्त मन के अन्तर्गत हैं और यह

---

1. *' The human soul has sojourned in lower and higher forms, migrating from one to another, according to the Samskaras or impressions, but it is only in the highest form as man that it attains to freedom.'* - **'The Atman: Its Bondage And Freedom'** , CW 2:258

आत्मा मन से अतीत और निराकार होने के कारण देश–काल–निमित्त के परे है। और जब वह देश काल निमित्त से अतीत है, तो अवश्य अनन्त होगी। यह भी ध्रुव सत्य है कि अनन्त कभी दो नहीं हो सकता। यदि आत्मा अनन्त है तो केवल एक ही आत्मा हो सकती है। और यह जो अनेक आत्मा की धारणा है–प्रति व्यक्ति भिन्न आत्मा की– यह सत्य नहीं है।अतः मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है वह अनन्त और सर्वव्यापी है, और यह प्रातिभासिक जीव मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भाव–मात्र है।

यही नहीं, आत्मा कार्यकारण भाव से परे होने के कारण अवश्य ही मुक्तस्वभाव है। वह कभी बद्ध नहीं थी, न ही बद्ध हो सकती है।[1] यह प्रतिभासिक जीव– यह प्रतिबिम्ब ही–देशकालनिमित्त के द्वारा सीमाबद्ध होने के कारण बद्ध प्रतीत होता है। मुक्तभाव (और पवित्रता) प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। उसका गुण नहीं है, क्योंकि गुण तो उपार्जित किया जा सकता है, इसलिये वह नष्ट भी हो सकता है। यदि मुक्तभाव आत्मा का स्वभावसिद्ध न हो, तब तो वह किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकती। यदि आत्मा पहले मुक्त थी, और इस समय किसी कारण से उस मुक्तावस्था को खोकर बद्ध हो गयी हो, तो इससे प्रमाणित होता है कि वह आरम्भ में मुक्त नहीं थी।[2] यदि मुक्त थी

---

1. द्र०– **वि०सा०** भाग 6, पृ०सं० 242
2. '*Supposing you were free and in some way you lost that freedom, that shows you were not free to begin with. Had you been free, what could have made you lose it? The independent can never be made dependent; if it is really dependent, its independence was a hallucination.*' – **'The Freedom Of The Soul'**, CW 2:196

तो उसको किसने बद्ध किया? जो स्वतन्त्र है, वह कभी परतन्त्र नहीं बनाया जा सकता; और यदि वह परतन्त्र थी, तो उसकी स्वतन्त्रता भ्रम है।

स्पष्ट है कि यदि आत्मा स्वभावतः शुद्धस्वरूप तथा मुक्त है तो अवश्यमेव यह मानना पड़ेगा कि जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उसे बाँधे या सीमित कर सके। किन्तु जगत् में यदि इस प्रकार की कोई वस्तु हो, जिससे उसे बद्ध किया जा सके, तो फिर निश्चय ही आत्मा मुक्त नहीं थी। अतः यदि आत्मा की मुक्ति सम्भव हो, तो फिर यह स्वीकार करना अपरिहार्य होगा कि आत्मा स्वभाव से ही मुक्त है।[1] इसके विपरीत हो ही नहीं सकता। मुक्ति का अर्थ है–किसी बाह्य वस्तु के अधीन न होना, अर्थात् उस पर किसी दूसरी वस्तु का कार्य न होना। आत्मा कार्य–कारण सम्बन्ध से अतीत है, और इसी से आत्मा के सम्बन्ध में स्वभावतः मुक्त–ऐसा कहा जाता है।

जीवात्मा का लक्ष्य प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों में मुक्ति ही मानी गयी है। विवेकानन्द भी जीवात्मा का लक्ष्य मुक्ति मानते हैं। आत्मा असीम है किन्तु माया से आबद्ध जीवात्मा अपने को शरीर की सीमाओं में बद्ध समझती है। इन सीमाओं के मध्य वह अपने असीम स्वरूप को प्राप्त कर लेने तक आगे और ऊपर बढने

---

1. '*So if it is possible for us to attain to freedom, the conclusion is inevitable that the soul is by its nature free. It cannot be otherwise.*' - **The Freedom Of The Soul**', CW 2:196

के लिये संघर्ष कर रही है। सूर्य–चन्द्र, शुभ–अशुभ, हर्ष–शोक आदि संघात उन अनुभवों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करने के लिये हैं, जिनके माध्यम से आत्मा अपने परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करती है।[1] तब वह बाह्य या आन्तरिक प्रकृति के नियमों से बँधी नहीं रह जाती। वह समस्त नियमों, सीमाओं तथा प्रकृति के परे चली जाती है। आत्मा का यही एक लक्ष्य है, और उस लक्ष्य –मुक्ति– को प्राप्त करने में वह जिन अनुभवों के मध्य से गुज़रती है, वे सब उसके जन्म माने जाते हैं। आत्मा एक निम्नतर शरीर धारण करके उसके माध्यम से अपने को व्यक्त करने का प्रयास करती है। यदि वह उसको अपर्याप्त पाती है, उसे त्याग कर एक उच्चतर देह धारण करती है। वह भी अभिव्यक्ति हेतु अपर्याप्त पायी जाने पर त्याग दी जाती है, और एक अधिक उच्चतर शरीर आ जाता है। इसी प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा अपने परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करने में समर्थ शरीर को नहीं पा लेती। इसके बाद फिर शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती और आत्मा मुक्त हो जाती है।[2]

---

1. *'These combinations as earths and suns, and moons and stars, right and wrong, good and bad, our laughter and our tears, our joys and sorrows, are to enable us to gain experience through which the soul manifests its perfect nature and throws off limitation.'* – **'The Nature Of The Soul And Its Goal'**, CW 6:22

2. *'...so on and on until a body is found through which the soul manifests its highest aspirations. Then the soul becomes free.'* - ----do---- p.23

माया

'माया' शब्द का प्रयोग व्यवहार में प्रायः भ्रम, भ्रान्ति या इसी प्रकार के अर्थ के द्योतन में किया जाता है । वेद में ही कहीं–कहीं यह शब्द इन्द्रजाल के आशय से भी प्रयुक्त हुआ है यथा–'*इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते*'।[1] उपनिषद्–काल तक आते–आते 'माया' शब्द उस अर्थ के एकदम निकट पहुँच चुका था, जो अद्वैतमत का मूल आधार है और जो हमारी अज्ञानता के कारण के रूप में प्रकट किया जाता रहा है। जैसे–'*नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति*'[2] और '*हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्*'[3] इत्यादि में यद्यपि 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि इनका भाव बहुत कुछ वही है जो शङ्कर या परवर्ती अद्वैतवादी 'माया' शब्द से अभिव्यक्त करते हैं । उपनिषदों में इस जागतिक प्रपंच को मायाजन्य बताते हुए माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में कहा गया – '*मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्*।'[4] शंकराचार्य ने माया की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है :–

---

1. द्र॰– ऋग्वेद 6:47:18
2. द्र॰– ऋग्वेद 10:82:7
3. द्र॰– ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र सं॰15
4. द्र॰– श्वेताश्वतरोपनिषद् 4:10

'अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदम्प्रसूयते ।।'

स्वामी विवेकानन्द भी माया शब्द को उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त करते हैं , जो शङ्कराचार्य को अभीष्ट था । माया, ब्रह्म की अभिन्न शक्ति हैं। इसी शक्ति के कारण एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नानारूप में भासित होता है। स्वामीजी का मानना है कि माया संसार की व्याख्या करने के निमित्त कोई सिद्धान्त नहीं हैं। यह संसार की वस्तु स्थिति का वर्णन–मात्र है। यह इस तथ्य की सहज अभिव्यक्ति मात्र है कि हम क्या हैं और अपने चारो ओर क्या देखते हैं।

मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टिमात्र है और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम–रूप में परिणत किया गया है। इसे समझाने के लिये विवेकानन्द समुद्र व उसकी तरंग का दृष्टान्त देते हैं[3]– समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है। नाम और रूप दोनो तरंग के साथ ही हैं। तरंगें विलीन हो सकती हैं; और तरंग में जो नाम और रूप

---

1. 'Maya is not a theory for the explanation of the world; it is simply a statement of facts as they exist.' – **'Maya And Illusion'** CW 2:97
2. 'the Maya of the Vedanta, in its last developed form, is neither Idealism nor Realism, nor is it a theory. It is a simple statement of facts -- what we are and what we see around us.' **'Maya And Illusion'** CW 2:89
3. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 5, पृ॰सं॰ 310

हैं, वे भी चाहे चिरकाल के लिये विलीन हो जाएँ, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही जीव में, पशु–मनुष्य–देवताओं में भेद भाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है, जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जाएँ, तो वह सदा के लिये अन्तर्हित हो जाएगी।[1] माया का अस्तित्व निर्विकार ब्रह्म पर निर्भर रहता है और इसकी ब्रह्म से कोई पृथक् सत्ता नहीं है। माया समष्टि रूप से अनादि अनन्त है, किन्तु व्यष्टि रूप से सान्त है।[2]

माया जीव, जगत् तथा ईश्वर के अस्तित्व का कारण है।[3] माया शून्य नहीं है। यह न तो सत् है और न असत् है। केवल वही वस्तु सत् कही जा सकती है, जो देशकाल से परे हो और जिसके अस्तित्व के लिये किसी दूसरे की आवश्यकता न हो। इस दृष्टि से निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्त्व ही एकमात्र सत् है।

---

1. *'In fact, it is this Maya that causes the Atman to be caught, as it were, in so many millions of beings, and these are distinguishable only through name and form. If you leave it alone, let name and form go, all this variety vanishes for ever, and you are what you really are.'* –'**The Vedanta**', CW 3/420

2. *'Maya is eternal both ways, taken universally, as genus; but it is non - eternal individually.'* - **CW** 5:317

3. द्र.– **वि.सा.** भाग 9, पृ.सं. 68–69

माया असत् भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि तब तो इसके कारण जगत् का प्रतिभासित होना भी सम्भव नहीं हो सकता। अतः यह न तो सत् है, न असत्, प्रत्युत अनिर्वचनीय है।[1]

यही बात इस संसार के लिये भी कही जा सकती है कि हम अपने चारों ओर जिस संसार को देखते हैं, वह न तो सद् है और न ही असद्, प्रत्युत मिथ्या है। संसार को मिथ्या कहने से विवेकानन्द का तात्पर्य है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है।[2] हमारे मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है । हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती तो हम इसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते। तथा और अधिक इन्द्रियसम्पन्न होने पर इसे और भी भिन्नरूप में देख पाते। जिसकी एक या एकाधिक इन्द्रियाँ कार्य नहीं करतीं, उनको संसार इनसे भिन्न प्रतीत होता है। यानी इस संसार की सत्ता यथार्थ

---

1. *'This Maya is not absolute zero, nor non - existence. It is defined as neither existence nor non - existence. It is not existence, because that can be said only of the Absolute, the Unchangeable, and in this sense, Maya is non - existence. Again, it cannot be said it is non - existence; for if it were, it could never produce the phenomenon. So it is something which is neither; and in the Vedanta philosophy it is called Anirvachaniya or inexpressible.'* –**'The Vedanta Philosophy'**, CW 1:364

2. *'This world has no existence.What is meant by that? It means that it has no absolute existence.'* – **'Maya And Illusion'**, CW 2:91

नहीं है, क्योंकि यह परिवर्तनशील व सापेक्ष है। यह असत् भी नहीं है, क्योंकि हम वर्तमान जीवन में इसका अनुभव करते हैं। इस संसार की भाँति इसकी प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। जीवन में अगर सुख है तो साथ ही दुःख भी लगा है। अगर शुभ है तो वहीं अशुभ भी है। जो समृद्ध है और सुखभोग कर रहा है, उसके लिए संसार शुभ है, और वह आशावादी हो जाता है। जो अभावग्रस्त है, जिसे कष्ट है, उसके लिए संसार दुःखमय व अशुभ है। वह घोर निराशावादी बन जाता है। और जीवन तदनुसार आशावाद से निराशावाद में दोलायमान रहता है। चाहे आाशावादी हो या निराशावादी, चाहे राजा हो या रंक चाहे पुण्यात्मा हो या महापापी – सबका अन्त एक ही है – मृत्यु। सभी प्रगति, व्यर्थ के आडम्बरपूर्ण कार्यकलाप समाज सुधार, विलासिता, ऐश्वर्य इन सबकी एकमात्र गति मृत्यु ही है। फिर भी जीवन के प्रति, व्यक्ति की प्रबल आसक्ति है । हम क्यों इस जीवन से आसक्त हैं ? क्यों हम इसका परित्याग नहीं कर पाते ? यह हम नहीं जानते। और यही माया है।[1] हमारे चारों ओर प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, फिर भी जो जीवित हैं, वे समझते हैं कि वे कभी मरेंगे ही नहीं। बस यही माया है। हम मृत्यु को टालना चाहते हैं और यह सोचकर कि इन्द्रिय सुख ही यथार्थ है, इसी में सदा रत रहना चाहते हैं। पतंगे जिस प्रकार दीपक की लौ पर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार हम इन्द्रियों में सुख पाने की आशा से अपने को बारम्बार झोंकते रहते

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 2, पृ॰सं॰ 47

2. द्र॰– वही– पृ॰सं॰ 49

हैं । पुनः पुनः लौटकर हम फिर से नये उत्साह के साथ लग जाते हैं । बस, इसी प्रकार ऐन्द्रिक आसक्ति का क्रम चलता रहता है और अन्त में लूले–लँगड़े होकर, धोखा खाकर हम मर जाते हैं। यही माया है।

किसी न किसी रूप में हम सभी इस माया के भीतर हैं। यह बात समझना बड़ा कठिन है। सभी देशों में महापुरुषों ने इस तत्त्व का प्रचार किया है। सभी देश के लोगों ने इसकी शिक्षा प्राप्त की है, पर बहुत कम लोगों ने इस बात पर विश्वास किया है। इसका कारण यही है कि स्वयं बिना भोगे, स्वयं बिना ठोकर खाये हम इस बात पर विश्वास नहीं कर सकते।[1]

---

1. द्र०– **वि.सा.** भाग 2, पृ.सं. 76

ईश्वर

ब्रह्म एकमात्र निरपेक्ष सत्य है । ज्ञान के प्रारम्भिक साधन इन्द्रिय और मन –सान्त तथा परिमित हैं और तदनुरूप सीमित विषयों की धारणा कर सकते हैं। अनन्त तथा अपरिमित ब्रह्म की धारणा का सामर्थ्य उनमें नहीं है। इस एकमेवाद्वितीय, निरपेक्ष ब्रह्म की धारणा के प्रयास में मानव–मन जो उच्चतम अभिव्यक्ति कर सकता है, वही ईश्वर है।[1] ब्रह्म का साकार, सगुण और सापेक्ष भाव ही ईश्वर कहा जाता है। एक अन्य स्थल पर विववेकानन्द कहते हैं कि जब निर्गुण ब्रह्म को हम माया के कुहरे से देखते हैं तो वही ईश्वर कहलाता है।[2] ब्रह्म निर्गुण तथा निरपेक्ष होने से ध्यान का सुगम आलम्बन नहीं बन पाता। अधिकांश साधक निराकार पर ध्यान लगाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं । इसलिए ऐसे साधक ध्यान लगाने हेतु ब्रह्म के साकार रूप का अवलम्बन लेते हैं। फिर, कुछ ऐसे भक्त साधक भी होते हैं, जो प्रेम के वशीभूत होकर परमतत्त्व की उपासना करना चाहते हैं। किन्तु ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के योग्य नहीं है, इसलिये भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव अर्थात्

---

1. *'Ishvara is the highest manifestation of the Absolute Reality, or in other words, the highest possible reading of the Absolute by the human mind.'* **'The Philosophy Of Ishvara'**, CW 3:37
2. *'The Personal God is the same Absolute looked at through the haze of Maya. When we approach Him with the five senses, we can see Him only as the Personal God.'*- **'On Bhakti-Yoga'**, CW 5:266

ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है । भक्त का यह प्रेममय सगुण ईश्वर ज्ञानी के सच्चिदानन्दस्वरूप निर्गुण ब्रह्म से भिन्न नहीं है।[1]

ईश्वर और ब्रह्म

अब प्रश्न यह उठता है कि एक तरफ तो ईश्वर को ब्रह्म से अभिन्न स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर सगुण आदि कहकर भिन्नता भी दर्शायी जा रही है, यहाँ तो विरोध दिख रहा है । स्वामी जी का कहना है कि यहाँ कोई विरोध नहीं है। निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही सगुण–साकार ईश्वर रूप में प्रतीत होता है । ईश्वर न तो ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता है और न ही उसका प्रकारान्तर । अपितु यह ब्रह्म का सापेक्ष रूप है । यह सापेक्षता जीवात्मा से सम्बन्धित है । जीवात्मा ब्रह्म को इन्द्रियादि सीमित साधनों से समझने का प्रयास करता है । किन्तु जीव का ससीम मन असीम ब्रह्म की अवधारणा नहीं कर पाता । ब्रह्म न तो इन्द्रियों का विषय है और न ही मन का । '*यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*'[2] – निराकार को समझने में अक्षम मन ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ साकार के रूप में कल्पित करता है और निर्गुण की अवधारणा न कर पाने पर ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठ सगुण के रूप में कल्पना करता है । उसमें सर्वशक्तिमत्ता, जगन्नियन्तृत्व आदि गुणों को भी स्वीकार करता है । और इसप्रकार असीम निर्गुण निराकार ब्रह्म मानव–मन की सीमाओं में बँधकर सगुण साकार ईश्वर बन जाता है ।

---

1. द्र०– **भक्तियोग**, पृ.सं० 14
2. द्र०– **तैत्तिरीयोपनिषद्**, 2:9

सगुण ईश्वर की धारणा मनुष्य के लिये सर्वोच्च सम्भव विचार है। ईश्वर में आरोपित समस्त गुण उसी अर्थ में सत्य हैं, जिस अर्थ में प्रकृति क़े गुण सत्य हैं। फिर भी, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सगुण ईश्वर माया के माध्यम से देखा जाने वाला ब्रह्म ही है। यदि इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कहें तो मानव–मन निरपेक्ष ब्रह्म की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है । ईश्वर और ब्रह्म के इस सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वामी विवेकानन्द एक उदाहरण देते हैं[1] :–

हम यहाँ पृथ्वी पर खड़े होकर सूर्य को देखते हैं । मान लिया हम सूर्य की ओर जाना चाहते हैं । सूर्य की ओर कुछ हज़ार मील अधिक जाने पर हमें सूर्य बड़ा व अधिक चमकदार दिखेगा । और अधिक आगे जाने पर सूर्य अधिक बड़ा व परिवर्तित रंग का दिखेगा । एकदम निकट पहुँचने पर सूर्य अतिविशाल दिखेगा । हम इस यात्रा को चरणों में विभाजित करके प्रत्येक चरण में यदि सूर्य की फोटो खींचते हैं और सभी फोटो लेने के बाद आपस में उनकी तुलना करते हैं, तो सभी चित्र भिन्न–भिन्न दिखेंगे। क्योकि प्रथम दृष्टि में वह एक छोटा लाल गोला था और वास्तविक सूर्य करोड़ों मील विस्तृत है। तथापि सूर्य वही था। परिवर्तन द्रष्टा के सापेक्ष था। यही बात ब्रह्म/ईश्वर के सम्बन्ध में है। उस अनन्त सत्ता को हम भिन्न–भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से, मन के भिन्न–भिन्न स्तरों से देखते है। निम्नतम स्थिति

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 8, पृ॰सं॰ 119

का मनुष्य (मन) उसे एक पितर के रूप में देखता है, उच्चतम स्थिति का मनुष्य (मन) उसे सर्वनियन्ता ईश्वर के रूप में देखता है और जब मनुष्य मन को सर्वथा नियन्त्रित कर लेता है, तो वह परब्रह्म का साक्षात्कार करता है। यहाँ ब्रह्म वही है भिन्न–भिन्न अनुभव केवल दृष्टि के परिणाम तथा भेद हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि ईश्वर अनिर्वचनीय ब्रह्म की उच्चतम अभिव्यक्ति है। तो क्या ईश्वर की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है? विवेकानन्द कहते हैं नहीं। जब जीव तथा जगत् की ब्रह्म से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (अपितु माया के सापेक्ष व्यावहारिक सत्ता है) तो उसी प्रकार से ईश्वर की भी ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नही है ।

ईश्वर और जीव

जीव व्यष्टि है और ईश्वर समस्त जीवों की समष्टि । जीव में अविद्या प्रबल है, जबकि ईश्वर विद्या और अविद्या की समष्टिरूपी माया को वशीभूत करके विराजमान है और स्वाधीन भाव से उस स्थावरजंगमात्मक जगत् को अपने भीतर से बाहर निकाल रहा है। ईश्वर व्यष्टिओं की समष्टि है और साथ ही वह एक व्यष्टि भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव शरीर इकाई होते हुए भी कोशिकाओं रूपी अनेक व्यष्टिओं की समष्टि है । जीव तथा ईश्वर का व्यष्टि–समष्टि सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर करता है, जैसे कि शरीर का कोशिकाओं पर और जीव की कल्पना भी ईश्वर की सत्ता के बिना नहीं की जा सकती । इस प्रकार जीव और ईश्वर सह अस्तित्ववान् हैं। यदि एक का अस्तित्व है, तो दूसरे का अस्तित्व अवश्य

ही होगा।[1] समष्टि स्वरूप होने के कारण सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता ईश्वर के प्रत्यक्ष गुण है।[2] ईश्वर का जीवात्मा से क्या संबंध है ? इस बात को समझाने लिये स्वामी विवेकानन्द एक सचित्र उदाहरण देते हैं[3] –

यहाँ क और ख दो बिन्दु हैं, जिन्हें अक्ष रेखा करव जोड़ती है। $क_1$, $क_2$, $ख_1$, $ख_2$ इत्यादि कोष्ठ हैं। यद्यपि इनमें से प्रत्येक पृथक् है, तथापि सभी कोष्ठ क, ख, बिन्दु और अक्ष रेखा से संयुक्त हैं। यह संयोजन अभिन्न भाव से है , क्योंकि इन दोनों बिन्दुओं पर पहुँच कर सभी अपना पृथक् रूप छोड़कर एकरूप हो जाते हैं । प्रत्येक का अलग–अलग व्यक्तित्व है, परन्तु क ख बिन्दु पर सब एक हैं, वहाँ उन्हें पृथक्–पृथक् रूप से नहीं पहचाना जा सकता । कोई भी उस क ख अक्ष रेखा से निकलकर भाग नहीं सकता $क_3$ से $ख_3$ बहुत दूर हो सकता है, किन्तु क या ख बिन्दु अथवा क ख अक्षरेखा पर पहुँचने पर सब वही है । अक्षरेखा पर पहुँच कर हम किसी भी कोष्ठ में प्रवेश कर सकते हैं । वहाँ से सभी कोष्ठ सुगम व सुलभ है । यह अक्षरेखा ही ईश्वर है , और $क_1$ $क_2$ आदि जीवात्मा हैं । वहाँ उससे हम अभिन्न हैं, सब सबमें है और सब ईश्वर में भी है । जिस प्रकार परिधि की भिन्नता होने पर भी

---

1. द्र०– **वि.सा.** भाग 8, पृ.सं. 83
2. '*Omnipotence and omniscience are obvious qualities and need no argument to prove from the very fact of totality.*' - '**Ishvara And Brahman**' CW 5/269
3. द्र०– ओलि बुल को लिखा गया पत्र, दि. 20 जनवरी, 1895

सभी कोष्ठ अनिवार्य रूप से अक्षरेखा पर अभिन्न हैं, उसी तरह से देहादि नामरूप की भिन्नता होने पर भी आत्मरूप से सभी जीव अभिन्न हैं । उनकी यह अभिन्नता जहाँ प्रदर्शित होती है, वही ईश्वर है। इसी दृष्टि से ईश्वर को जीव का समष्टिरूप कहा गया है ।

ईश्वर और जीव का सम्बन्ध एक अन्य रूप से भी समझा जा सकता है । प्रत्येक जीवात्मा एक नक्षत्र है और ये सब नक्षत्र ईश्वररूपी उस अनन्त निर्मल, नील आकाश में विन्यस्त हैं । वही ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा का मूलस्वरूप है। वही प्रत्येक का यथार्थ स्वरूप और वही प्रत्येक और सबका प्रकृत व्यक्तित्व हैं ।[1]

वेदान्त का ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं, विचार है, तत्त्व है।[2] जब तक हमारा शरीर है, और हम स्थूल जगत् की ओर दृ ष्टि किये हुए हैं, तब तक हमें सगुण ईश्वर को स्वीकार करना ही होगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को स्वीकार न करना निरा पागलपन है। ईश्वर केवल आनन्दपूर्ण है । ईश्वर को जहाँ ब्रह्म के अंश या पाद के रूप में कहा गया है, वह शाब्दिक रूप से समझाने के लिये परिकल्पना मात्र है। ब्रह्म का अंशांश भाग नहीं होता। जिस पाद में

---

1. *'Each soul is a star, and all stars are set in that infinite azure, that eternal sky, the Lord. There is the root, the reality, the real individuality of each and all.'* ओलि बुल को लिखा गया पत्र, दि. 20 जनवरी, 1895
2. *'What is the God of Vedanta? He is principle, not person. You and I are all Personal Gods. The absolute God of the universe, the creator, preserver, and destroyer of the universe, is impersonal principle.'*- **'Is Vedanta The Future Religion'**, CW 8/134

सृष्टि–स्थिति–लय का अध्यास हो रहा है, उसी को शास्त्र में **'ईश्वर'** कह कर निर्देशित किया गया है । इस दृष्टि से ईश्वर विश्व का स्रष्टा, विधाता और संहर्ता है।[1] निखिल विश्व का वही शिव है, सत्य है। हम उससे जितनी दूर होते हैं, उतना ही अधिक हमें अवसाद झेलना पड़ता है। जितना अधिक उसे जानते हैं, उतना ही संकट टलता जाता है। यदि ईश्वर में लीन होने वाला भी पीड़ित रहे, जो उसकी तल्लीनता से क्या लाभ? और ऐसे ईश्वर का कोई उपयोग भी नहीं। परन्तु ईश्वर परमकारूणिक है।[2]

ईश्वर के प्रसंग में विवेकानन्द नरदेहधारी ईश्वर अर्थात् **'अवतार'** का होना भी स्वीकार करते हैं।[3] अवतार के माध्यम से ही हम ईश्वर को देख सकते हैं । अवतार के बारे में प्रायः सामान्यजन यह सन्देह करते हैं कि ईश्वर तो अनन्त है, फिर वह मनुष्य रूप धारण कर इतने छोटे आकार का कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में विवेकानन्द मानते हैं कि यह भ्रम 'अनन्त' शब्द का अर्थ विराट् जडसत्ता समझने के कारण होता है। अर्थात् यह समझना कि एक विराट् जड पदार्थ को इतना छोटा नहीं किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ में अनन्त नहीं है। उसका आनन्त्य चैतन्य का आनन्त्य है।[4] इसलिए मानव के आकार में अपने को अभिव्यक्त करने पर भी

---

1. द्र०– **वि॰सा॰** भाग 9, पृ॰सं॰ 87
2. द्र०– **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 14
3. –वही– पृ॰सं॰ 39
4. द्र०– **वि॰सा॰** भाग 10, पृ॰सं॰ 375

उसके स्वरूप को कुछ क्षति नहीं पहुँचती है। जब व्यक्ति अन्य किसी साधन द्वारा ईश्वर–दर्शन का प्रयत्न करता है, तो वह अपने मन में ईश्वर का एक विचित्र सा रूप गढ़ लेता है और सोचता है कि बस यही ईश्वर का सच्चा रूप है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हम ईश्वर की मनुष्य से उच्चतर रूप में कल्पना ही नहीं कर सकते।[1] ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझता है और मानवता के कल्याण के लिए नरदेह धारण करता है। इसके समर्थन् में विवेकानन्द गीता से भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार लेने सम्बन्धी वचनों को भी उद्धृत करते हैं।[2] विवेकानन्द का मानना है कि अवतार केवल स्पर्श से, यहाँ तक की इच्छामात्र से ही आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं। उनकी इच्छा से पतित से पतित व्यक्ति भी क्षण भर में साधु हो जाता है।[3] वह अपने गुरु श्रीरामकृष्ण के वचनों का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि जब एक अवतार जन्म लेता है, तो समस्त संसार में आध्यात्मिकता की एक बाढ़ आ जाती है और लोग वायु के कण–कण में धर्मभाव का अनुभव करने लगते हैं ।

---

1. द्र॰– **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 40
2. 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
   परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।'
   — **'गीता'**, 4 : 7- 8
3. द्र॰– **भक्तियोग**, पृ॰सं॰ 39
4. '*जब एक बहुत बड़ी लहर आती है, तो छोटे–छोटे नाले और गड्ढे अपने आप ही लबालब भर जाते हैं। इसीप्रकार जब एक अवतार जन्म लेता है, तो समस्त संसार में आध्यात्मिकता की एक बाढ़ आ जाती है और लोग वायु के कण–कण में धर्मभाव का अनुभव करने लगते हैं।*' – **वि॰सा॰** भाग 4, पृ॰सं॰ 28 में उद्धृत श्रीरामकृष्ण की उक्ति

जगत् की अवधारणा

ब्रह्म देशकालनिमित्त में से होकर आने से जगत् बन गया है। यथार्थ में जगत् और कुछ नहीं केवल निर्गुण ब्रह्म है और हम लोगों की बुद्धि द्वारा उसको तत्तत् नामरूप दिये गये हैं । एक पत्थर में जितना सत्य है, वह वही सत् है और इस पत्थर की आकृति तथा जो अन्य बातें हैं, वे सब सामान्य मानव–बुद्धि द्वारा ऊपर से जोड़ी गयी हैं । यह जगत् शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकता है । बिना कारण कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और कार्य, कारण के पुनरुत्पादन के सिवा कुछ नहीं है।[1] वस्तु सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और फिर स्थूल से स्थूलतर रूप ग्रहण कर सकती है । यह समग्र व्यक्त जगत् पहले अपनी अन्तर्भूत अवस्था में विद्यमान था, जो इन विविधरूपों में अभिव्यक्त हुआ; और फिर से वह अपनी उस अन्तर्भूत दशा को प्राप्त हो जाएगा।[2] विश्व के समस्त जड़ पदार्थ 'आकाश' नामक मूलतत्त्व से उद्‌भूत हैं। इस तत्त्व के साथ प्राण नामकी आद्य ऊर्जा रहती है। प्राण और आकाश संघटित और पुनस्संघटित होकर शेष तत्त्वों का

---

1. *'Whence all these things come. The answer is: What is meant by coming? If it means that something can be produced out of nothing, it is impossible. All this creation, manifestation, cannot be produced out of zero. Nothing can be produced without a cause, and the effect is but the cause reproduced.'* –**'Soul, Nature, And God'**, CW2/425
2. द्र.– **वि.सा.** भाग 8, पृ.सं. 80

निर्माण करते हैं।[1] प्राण के बार–बार आघात के द्वारा आकाश से 'वायु' अथवा स्पन्दन उत्पन्न होता है। वायु का स्पन्दन अधिक तीव्र होने पर ताप या 'तेज' की उत्पत्ति होती है। फिर यह ताप तरल भाव धारण करता है, उसे 'अप्' कहते हैं । अन्त में, यह तरल पदार्थ घनीभूत होकर 'आकार' प्राप्त करता है।[2] ये आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूत ही वेदान्त में तन्मात्र और अपंचीकृत कहे जाते हैं। इन सूक्ष्मभूतों के संयुक्तरूपों से मिलकर ही स्थूलभूत बनते हैं। कालान्तर में सृष्टि की प्रगति समाप्त हो जाती है और प्रलय प्रारम्भ होता है। सभी पदार्थ क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को प्राप्त करते हुए मूलभूत आकाश एवं प्राण में परिवर्तित हो जाते हैं । तब नया सृष्टि चक्र शुरू होता है।

अज्ञानोपहित ईश्वर समस्त जगत् का अपनी प्रधानता से निमित्तकारण और अपने उपाधिभूत अज्ञान की प्रधानता से उपादानकारण है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि अपरिवर्तनशील सत् परिवर्तनशील तथा नाशवान् पदार्थरूप में कैसे परिवर्तित हो सकता है? विवेकानन्द इसके उत्तर में शंकर–सम्मत विवर्तवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते

---

1. द्र०– **वि०सा०** भाग 4, पृ०सं० 194

2. *'The Akasha, acted upon by the repeated blows of Prana, produces Vayu or vibrations. This Vayu vibrates, and the vibrations growing more and more rapid result in friction giving rise to heat, Tejas. Then this heat ends in liquefaction, Apah. Then that liquid becomes solid.... and it goes back in exactly the reverse way.'*- **'Cosmology'**, CW 2:436

हैं।[1] समस्त संसार ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप है । ब्रह्म जगत् का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है। इसे रस्सी और सर्प के प्रसिद्ध उदाहरण से समझा जा सकता है । रस्सी सर्प जैसी आभासित होती है, वह वास्तव में सर्प नहीं है। उसका सर्प में परिर्वतन भी नहीं होता। इसी तरह जगत् का ब्रह्म में आभास भर होता है । सत् अपरिवर्तित रहता है। उसमें जितने भी परिवर्तन दिखते हैं, सभी आभासमात्र हैं । *वह एक सत्ता ही माया के प्रभाव से बहुरूप में दिखायी पड़ती है।*[2] रस्सी का साँप दिखना भ्रमात्मक है। भ्रम के समाप्त होने पर साँप का दिखना भी समाप्त हो जाता है। अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नहीं । जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब नाना नामरूपात्मक जगत् नहीं दिखता । विवेकानन्द कहते हैं कि पूर्ण उपलब्धि की प्रक्रिया में हम एक ही समय मे सत्य और मिथ्या दोनों नहीं देख सकते।[3] जब हम रस्सी मे साँप देखते हैं, तब रस्सी बिल्कुल नहीं दिखती। भ्रम दूर होने के बाद

---

1. द्र०– **वि.सा.** भाग 6, पृ.सं. 291
2. –वही– पृ.सं. 292
3. *'That One, under the illusion of Maya, is seen as many, just as a rope is seen as a snake. It is the very rope that is seen as a snake. No man sees these two things there at the same time. Dualism and non-dualism are very good philosophic terms, but in perfect perception we never perceive the real and the false at the same time.* ***We are all born monists, we cannot help it.*** *We always perceive the one. When we perceive the rope, we do not perceive the snake at all; and when we see the snake, we do not see the rope at all-- it has vanished.'* – **'One Existence Appearing As Many'**, CW 3:21

हमें सिर्फ रस्सी ही दिखती है, लाखों प्रयत्नों के बाद भी साँप नहीं दिखता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जब हम व्यावहारिक सत्ता देखते हैं, तब पारमार्थिक सत्ता नहीं रहती और जब हम उस अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता को देखते हैं, तो निश्चय ही फिर व्यावहारिक सत्ता प्रतीत नहीं होती । प्रत्यक्षवादी केवल व्यावहारिक सत्ता देखता है और विज्ञानवादी पारमार्थिक सत्ता देखने की चेष्टा करता है। जो अपरिणामी सत्ता का अपरोक्षज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिये परिणामशील जगत् का अस्तित्व नहीं रह जाता है। वस्तुतः उन्हीं को यह कहने का अधिकार है कि समस्त जगत् मिथ्या है और परिणाम नामक कोई चीज़ नहीं है । किन्तु प्रत्यक्षवादी केवल परिणामशील की ओर ही दृष्टि रखते हैं । उनके लिये अपरिणामी सत्ता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, अतएव वे जगत् को सत्य कहते हैं या कह सकते हैं।[1]

जगत् एक रेगिस्तानी मरीचिका है। हम प्रतिदिन इस जगद्रूपी मरुस्थल में भ्रमण कर रहे हैं, पर मरीचिका को मरीचिका नहीं समझ पा रहे हैं । जब तक हम कर्म से बँधे हैं, तब तक जगत् हमारे सम्मुख आएगा ही। जगत् की यह सत्ता तभी तक है जब तक माया का आवरण है। यह भौतिक जगत् मनुष्य की सीमित चेतना का परिणाम है। जब मनुष्य अपने वास्तविक रूप को पहचान लेता है, तब वह असीम चेतनरूप ब्रह्म से एकात्म हो जाता है। उस अवस्था में उसके लिए सब

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 8, पृ॰सं॰ 41

जड–द्रव्य *जैसा कि हम उसे जानते हैं*, समाप्त हो जाते हैं।[1]

सृष्टि के सम्बन्ध में विचार करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि यह संसार, प्रकृति या माया अनादि और अनन्त हैं । सृष्टि निरन्तर गतिशील है ।[2] यह सृष्टि अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति अर्थात् नवनिर्मिति *(creation)* न होकर केवल प्रक्षिप्ति अर्थात् *projection* भर है। सारी प्रकृति सदा विद्यमान रहती है, केवल प्रलय के समय वह क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती हैं और अन्त में एकदम अव्यक्त हो जाती है। फिर कुछ काल बाद मानों उसे कोई पुनः प्रक्षेपित करता है, और पुनः वही क्रम चालू हो जाता है। शास्त्रों में जहाँ सृष्टि के आदि–अन्त का उल्लेख है वह कल्पविशेष के लिये है। एक समय ऐसा आएगा जब सम्पूर्ण जगत् *बुलबुला होकर भाप के समान* अदृश्य हो जाएगा । परन्तु सृष्टिप्रवाह अविरत चलता रहेगा, फिर नूतन *जल* की सृष्टि होगी ही, और वह सृष्टि भी फिर इसी प्रक्रिया के अनुसार चलती रहेगी।[3]

इस सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है। वही इस जगत्प्रपंच का सामान्य कारण है। यह सृष्टि मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिये है, ईश्वर की

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 10, पृ॰सं॰ 33
2. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 5, पृ॰सं॰ 23
3. *'Sometime, however, all will be bubbles and escape; but creation, ever new, will bring new water to go through the process all over again.'*- **'Inspired Talks'**, CW 7:8

आवश्यकता की पूर्ति के लिये नहीं। इस जगत् की योजना में ईश्वर की कोई पूर्वयोजना नहीं है। यह कहना कि किसी पूर्वयोजना के तहत ईश्वर ने इस जगत् का निर्माण किया है, उसे सीमित करना है और उसे उसके सर्वशक्तिमान् स्वरूप से वंचित करना है । यह कहना ठीक नहीं है कि यदि ईश्वर की सृष्टि है तो यहाँ प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता, अत्याचार, दुःखादि क्यों हैं ? तथा कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई अमीर, कोई ग़रीब ऐसा वैषम्य तथा पक्षपात क्यों है ?

यह पक्षपातादि ईश्वर का दोष नहीं हैं। यह जीव का दोष है। जैसे एक बादल समान रूप से पानी बरसाता है। अच्छी तरह जोता खेत उसका लाभ उठाता है तथा अन्य तैयारीरहित खेतों को उससे कोई लाभ नहीं होता । वैसे ही अपने इस जन्म या पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्मो के शुभाशुभ फल के रूप में यह वैषम्य होता है ।

यह संसार एक सापेक्ष संसार है, यथार्थ सत्य की एक छाया या आभासमात्र है; तथापि चूँकि यह सन्तुलन का ऐसा स्तर है कि जिस पर सुख–दुःख प्रायः समान रूप से सन्तुलित हैं, इसलिये यही एक स्तर है जहाँ मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात् कर सकता है और जान सकता है कि वह ब्रह्म है।[1]

जगत् एक ही है, पर इन्द्रियों

---

1. द्र०– **वि०सा०** भाग 6, पृ०सं० 253

को यह भौतिक लगता है, बुद्धि को आत्माओं का समूह दिखता है और आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर के रूप में प्रकट होता है।[1] उस व्यक्ति को, जो अपने ऊपर पापों का परदा डाले रहता है, यह गर्हित लगेगा; किन्तु जो सतत आनन्द की खोज में है, उसे यह स्वर्ग सा लगेगा और जो आध्यात्मिक रूप से पूर्णतः विकसित है, उसके लिये ये सब अन्तर्हित हो जायेगा, उसे केवल अपनी ही आत्मा का विस्तार प्रतीत होगा ।

---

1. '*Again, the last word gave us one universe, which through the senses we see as matter, through the intellect as souls, and through the spirit as God.*'- **'The Atman'**, CW 2:253

मोक्ष

मोक्ष को मनीषियों ने मानव का चरम पुरुषार्थ माना है। भारतीय दर्शनशास्त्रों के अनुसार मोक्ष का अर्थ जीवात्मा का पाप अथवा भूलों से छूटकर अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानना व उसे प्राप्त करना है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप को लेकर विभिन्न विचारधाराओं में मत–मतान्तर हैं, फिर भी यह सभी दार्शनिक विचारधाराओं के लिये सर्वोच्च आकांक्षित अवस्था है। छोटे से छोटा दार्शनिक सिद्धान्त भी अन्ततः मोक्ष के सापेक्ष ही स्वीकार्य है। विवेकानन्द भी जीवन का चरम लक्ष्य मुक्त होना मानते हैं।[1] मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता – शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना।[2] एक अन्य स्थल पर वह कहते हैं कि मोक्ष वह है जो यह सिखाता है कि इस लोक का सुख भी गुलामी है, तथा परलोक का सुख भी वही है। ज़न्जीर चाहे लोहे की हो या सोने की, एक बन्धन ही है। सुख नाशवान् है। अतः मुक्ति की चेष्टा करनी चाहिए तथा मनुष्य को प्रकृति के बन्धन के परे जाना चाहिए। सत्प्रवृत्ति के द्वारा असत्प्रवृत्तियों का दमन करना चाहिए और बाद में सत्प्रवृत्तियों को भी जीतना चाहिए।

---

1. *'The goal of the soul among all the different sects in India seems to be the same. There is one idea with all, and that is liberation.'* – **'The Nature Of The Soul And Its Goal'**, CW 6:22
2. *'Mukti means entire freedom -- freedom from the bondages of good and evil. A golden chain is as much a chain as an iron one.'* – CW 5:317

विवेकानन्द कहते हैं कि एक परमाणु से लेकर मनुष्य तक सब मुक्ति के लिये संघर्ष कर रहे हैं। यह समग्र विश्व इस मुक्ति के लिये संघर्ष का परिणाम है। जीवात्मा की मुक्ति से आशय यह नहीं है कि यह कभी परमार्थिक रूप से बन्धन में थी और बाद में मुक्त हो गयी, या मिथ्या मनुष्य ब्रह्मरूप हो गया। ब्रह्म के सम्बन्ध में होने जैसा कुछ नहीं है। आत्मा तो नित्य मुक्त ब्रह्म ही है। माया का आवरण पड़ने से जीवात्मा अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता है; यही बन्धन है। जब *माया का आवरण दूर होने पर जीवात्मा को ज्ञान होता है कि वह ब्रह्म से अपृथक् है, तो इस अवस्था को मुक्ति कहते हैं।* जब तक जीवात्मा अपने ब्रह्म होने की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेती, वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकती।

मुक्ति के भेद

विवेकानन्द ने दो प्रकार की मुक्ति मानी है। एक है सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। वस्तुतः ये दोनों भेद मुक्ति के स्वरूप के भेद नहीं हैं, अपितु मुक्तिलाभ होने में लगनेवाले समय के लिहाज़ से हैं। सद्योमुक्ति के सम्बन्ध में वह बताते हैं कि पूर्ण निष्ठा व मनोयोग से योग की किसी साधना में रत साधक अन्ततः अविद्या–अज्ञानादि के क्षय हो जाने पर '*अहं ब्रह्मास्मि*- इस ज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। इस सत्य का साक्षात्कार करते ही तत्काल मुक्ति मिल जाती है।[1]

---

1. '*Know the truth and be free in a moment.*'- **'The Atman'**, CW 2:251

इसके अतिरिक्त प्रकार से भी कुछ साधकों को मुक्ति होती है, जिसे क्रममुक्ति कहते हैं। उसका वर्णन करते हुए विवेकानन्द लिखते हैं कि जो साधक सगुण ईश्वर की उपासना करते हैं और तन्निष्ठ हो जाते हैं, वे उच्चतम लोक में जाकर दिव्य देह प्राप्त करते हैं।[1] वह रोग–शोक–मृत्यु इत्यादि अशुभ से परे होकर चिरकाल तक सगुण ईश्वर के साथ वास करते हैं। समय–समय पर उनमें से कोई–कोई पृथ्वी पर आकर, मानव–देह धारण कर मनुष्य को ईश्वर का उपदेश देते हैं। जैसे–जैसे प्रकृति के सम्बन्ध में उनकी धारणा उन्नत होती जाती है, वैसे–वैसे प्रकृति के नियन्ता परमेश्वर के सम्बन्ध में भी उनकी धारणा उन्नत होती जाती है और वह क्रमशः मुक्तिलाभ करते हैं।[2]

सद्योमुक्तिलाभ में भी विवेकानन्द दो सम्भावनाएँ देखते हैं। एक तो इसी जीवन में जीवित रहते हुए मुक्ति–प्राप्ति और दूसरी, इसी जीवन में पूर्णात्मज्ञान से सकल कर्मक्षय एवं वासनाक्षय हो जाने से शरीरपात के बाद। पहली स्थिति 'जीवन्मुक्ति' कहलाती है, और दूसरी 'विदेहमुक्ति'। विवेकानन्द जीवन्मुक्त की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ऐसे अनेक व्यक्ति संसार में इस समय भी जीवित हैं, जिनका अज्ञान सदा के लिये चला गया है। सत्य की उपलब्धि के बाद उनका शरीरान्त तुरन्त नहीं हुआ । विवेकानन्द इसे समझाने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि यदि एक लकड़ी से जुड़े दो

---

1. द्र०– **वि.सा.** भाग 8, पृ.सं. 55
2. द्र०– **वि.सा.** भाग 2, पृ.सं. 82

पहिए वेग से चल रहे हों और उस लकड़ी को बीच से काटकर एक पहिया पकड़ लिया जाय, तो भी दूसरा पहिया पूर्व वेग के कारण थोड़ी दूर तक चलेगा। वेग समाप्त होते ही वह गिर जायेगा क्योंकि अतिरिक्त कोई बाह्य बल उस पर नहीं लग रहा है । इसी तरह पूर्ण शुद्धस्वरूप आत्मा मानो एक पहिया है, और शरीर–मन रूप भ्रान्ति दूसरा पहिया। ये दोनों कर्मरूपी लकड़ी से जुड़े हुए हैं। ज्ञान की कुल्हाड़ी से जब इस लकड़ी को काटते हैं , तो आत्मारूपी पहिया रुक जाता है; वह यह सोचना छोड़ देती है कि वह आ रही है, जा रही है, अथवा उसका जन्म या मरण होता है । वह इस प्रकार के सभी अज्ञानात्मक भावों का त्याग कर देती है और देखती है कि वह पूर्ण है, वासनारहित है। पर शरीर–मन रूपी पहिये में पूर्व–कर्मों का वेग बचा रहता है। यद्यपि नये कर्मों का फल तो नहीं होता, किन्तु प्रारब्ध–कर्मों के फल पूर्ण होने तक शरीर रहता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त व्यक्ति 'जीवन्मुक्त' कहा जाता हैं।[1] शरीर नष्ट हो जाने पर उसकी 'विदेह–मुक्ति' हो जाती है। जीवनमुक्ति भी प्रारब्धकर्मक्षय के फलस्वरूप संपन्न शरीरपात होने पर 'विदेह–मुक्ति' में ही पर्यवसित होती है। स्वामी विवेकानन्द ने सन् 1896 के जनवरी मास में अपने एक समर्थ शिष्य से वार्त्ता के दौरान कहा था –

'मुझे लगता है, विदेहमुक्ति ही सर्वोच्च स्थिति है।'[2]

जीवन्मुक्त पुरुष का शरीर अपने आप ही

---

1. द्र०– **वि.सा.** भाग 7, पृ.सं. 98, तथा **वि.सा.** भाग 2, पृ.सं. 35
2. द्र०–**विवेकानन्द चरित**, पृ.सं. 305

शुभ–कार्य करता है। वह केवल शुभ–कार्य ही कर सकता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण रूप से पवित्र हो गया है।[1] जिस अतीतसंस्काररूपी वेग द्वारा उसका देहचक्र परिचालित होता है, वह शुभ ही हैं। बुरे संस्कार सब दग्ध हो चुके हैं।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जीवन्मुक्त की दृष्टि में जगत् क्या और कैसा लगता है ? विवेकानन्द के अनुसार जीवनमुक्त पुरुष जगत् की वास्तविकता जानता है। ऐसा नहीं है कि वह जगत् के प्रति उदासीन रहता है। विवेकानन्द के अनुसार वह इस जगत् का आनन्द लेता है। विवेकानन्द एक जीवन्मुक्त व एक बद्ध मनुष्य की ज़िन्दगी में अन्तर दिखाने के लिये एक सुन्दर दृष्टान्त देते हैं।[2] वे रंगमंच पर भिक्षुक का अभिनय करने वाले अभिनेता तथा गलियों में भटकने वाले वास्तविक भिखारी की तुलना करते हैं। एक व्यक्ति दुःख–कष्ट से घिरे भिक्षुक का अभिनय कर आनन्द ले रहा है, तो दूसरा अपने को उन्हीं दुःखकष्टों से पीड़ित अनुभव करता है। यद्यपि दृश्य दोनों ओर एक से हैं, वर्णन करने मे भी एक से हैं, किन्तु दोनों दृश्यों में कितना भेद है। ऐसा भेद क्यों होता है? कारण, कि एक मुक्त है, और दूसरा बद्ध। अभिनेता जानता है कि उसका यह भिखारीपन सत्य नहीं है, उसने केवल अभिनय के लिये यह रूप स्वीकार किया है, किन्तु यथार्थ भिक्षुक समझता है कि यह उसकी चिर–परिचित अवस्था है; उसकी इच्छा

---

1. द्र०– **वि०सा०** भाग 7, पृ०सं० 90

2. द्र०– **वि०सा०** भाग 8, पृ०सं० 32

हो या नहीं उसे वह कष्ट सहना ही पड़ेगा। जब तक मनुष्य अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता और माया के खेल को नहीं समझ लेता; वह केवल भिक्षुक है और उसे कष्ट उठाना ही होगा। जीवन्मुक्त पुरुष अनासक्त रहता है। वह जल मे पद्मपत्र के समान रहता है।[1] जैसे पद्मपत्र जल में रहने पर भी नहीं भीगता है, उसी प्रकार वह जगत् में निर्लिप्तभाव से रहता है। उसकी कोई इच्छा–कामना इत्यादि भी नहीं होती। वह आप्तकाम होता है।[2]

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 8, पृ॰सं॰ 71

2. *'Desire makes slaves of us, it is an insatiable tyrant and gives its victims no rest; but the Jivanmukta has conquered all desire by rising to the knowledge that he is the One and there is nothing left to wish for.'* - **'Discourses On Jnana-Yoga'** CW 8 : 7

मोक्ष के साधन

मोक्ष प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। इन मार्गों अथवा साधनों का जातीय नाम योग है। योग का अर्थ है जोड़ना, अर्थात् अपने को अपनी वास्तविकता से जोड़ना।[1] योग की सभी प्रणालियों का लक्ष्य माया अथवा अविद्या को हटाना और आत्मा को अपने स्वरूप की पुनस्स्थापना करने देना है। योग की ये प्रणालियाँ विभिन्न स्वभाव के लोगों के अनुसार हैं। यह आवश्यक नहीं है कि एक ही योग प्रणाली सभी लोगों के लिये अनिवार्यतः मुक्ति का मार्ग बने।[2] हो सकता है कि एक स्वभाव के लोगों के लिये जो मार्ग सरल व सद्यःफलदायी हो, वही मार्ग दूसरे स्वभाव के लोगों को दुष्कर लगे। हर एक व्यक्ति सोचता है कि उसी की विधि सर्वोत्तम है। इसमें कुछ बुराई नहीं, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि यह विधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त है।[3] साथ ही, दूसरे की विधि को ग़लत कहना भी विवेकानन्द के दृष्टिकोण में ठीक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति शीर्षासन कर या तीन सिरों वाले पाँच हजार देवताओं की पूजा कर ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है, तो यही अच्छा है।[4] इस विषय में किसी

---

1. *'Yoga..to join, to join ourselves to our reality.'*- '**Four Paths Of Yoga**', CW 8:152
2. द्र.– **वि.सा.** भाग 8, पृ.सं. 71
3. *'Each one thinks his method is best. But remember, it may be good for you . One food which is very indigestible to one is very digestible to another. Because it is good for you, do not jump to the conclusion that your method is everybody's method, that Jack's coat fits John and Mary.'*- '**THE GITA III**', CW 1:470
4. द्र.—वही— पृ.सं. 469

को अच्छी विधि या बुरी विधि कहने का अधिकार नहीं है।[1] मनुष्यों में साधारणतया चार प्रकार के स्वभाव के लोग होते हैं–बुद्धिवादी, भावुक, रहस्यवादी तथा कर्मठ।[2] बुद्धिवादी मनुष्य दार्शनिक तथा विवेकसिद्ध सामग्री चाहता है। भावुक मनुष्य शरणागत होकर प्रेमपूर्ण समर्पण करता है। रहस्यवादी विभिन्न क्रियाओं से प्राण का नियमन करना चाहता है। और कर्मठ व्यक्ति मानव बन्धुओं की शिवभाव से सेवा करना चाहता है। इन्हीं के आधार पर योग की प्रणालियाँ भी चार प्रकार से वर्गीकृत की जा सकती हैं:–

(1) **राजयोग**– मन को नियन्त्रित करके देवत्व की अनुभूति।

(2) **कर्मयोग**– कर्त्तव्य पालन के द्वारा देवत्व की अनुभूति।

(3) **भक्तियोग**– व्यक्तिगत ईश्वर की भक्ति के द्वारा देवत्व की अनुभूति।

(4) **ज्ञान योग**– ज्ञान के द्वारा व्यक्ति का अपने ब्रह्मभाव की अनुभूति।

ज्ञान, भक्ति, राजयोग और कर्म–ये चारों मार्ग मुक्ति की ओर ले जाने वाले हैं। हर एक को उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिये वह योग्य है।[3]

---

1. द्र०– **वि॰सा॰** भाग 7, पृ॰सं॰ 304
2. द्र०– **वि॰सा॰** भाग 10, पृ॰सं॰ 221
3. '*Jnana, Bhakti, Yoga and Karma -- these are the four paths which lead to salvation. One must follow the path for which one is best suited; but in this age special stress should be laid on Karma-yoga.*'- Sayings And Utterances. **CW** 5:414

राजयोग

राजयोग आत्मानुभूति के परमसत्य तक पहुँचाने का क्रियात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से निर्मित मार्ग प्रस्तुत करता है। मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का उत्स है।[1] श्रद्धाभाव से योगाभ्यास करने पर मन का एक के बाद एक स्तर खुलता जाता है, और नये तथ्यों को प्रकाशित करता है। नयी शक्तियाँ तथा सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और अन्ततः चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है।[2] योगी के लिये तीन बड़ी आवश्यकताएँ हैं[3]–

(1) **शारीरिक और मानसिक पवित्रता** – प्रत्येक प्रकार की मलिनता और मन को पतन की ओर ढकेलने वाली सभी बातों का परित्याग आवश्यक है।

(2) **धैर्य**–प्रारम्भ में आश्चर्यजनक दृश्य प्रकट होंगे, पर बाद में वे सब अन्तर्हित हो जाएँगे। यह सबसे कठिन समय है। परन्तु दृढ़ रहने तथा धैर्य रखने से सिद्धि सुनिश्चित है।

(3) **लगन** –सुख–दुःख, स्वास्थ्य–अस्वास्थ्य आदि सभी दशाओं में साधना में एक दिन का भी नाग़ा न होना चाहिए। यही है साधक की लगन।

अज्ञान, चंचलता, ईर्ष्या, आलस्य और अतिशय आसक्ति योगसिद्धि के महान् शत्रु हैं। साधक को इनसे बचकर रहना चाहिए।

---

1. *'Concentration of the mind is the source of all knowledge.'*- **'Six Lessons On Raja-Yoga'**, CW 8:36
2. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 4, पृ॰सं॰ 79
3. द्र॰– **–वही–** पृ॰सं॰ 81

साधना का सर्वोत्तम समय दिन और रात की सन्धि का समय है।[1] यह हमारे शरीर की हलचल के शान्त रहने का समय है। यम और नियम से युक्त साधक स्वानुकूल दृढ़ आसन में बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करे। राजयोग में प्राणवायु चित्तभूमि में प्रविष्ट होकर हमें आध्यात्मिक राज्य में ले जाती है।[2] राजयोग के द्वारा हम चित्त को अनेक क्रिया-शक्तियों का रूप धारण करने अथवा उनमें रूपान्तरित होने से रोकते हैं। जिस प्रकार समुद्र में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब तरंगों के कारण अस्पष्ट अथवा विच्छिन्न हो जाता है, वैसे ही आत्मा का प्रतिबिम्ब भी मन की तरंगों से विच्छिन्न हो जाता है। जब मन संयम के द्वारा सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, तभी स्वरूप का साक्षात्कार होता है।[3] प्राण प्रथम फेफड़े पर क्रिया करता है, फेफड़ा हृदय को प्रभावित करता है, हृदय रक्तप्रवाह पर और रक्तप्रवाह क्रमानुसार मस्तिष्क पर तथा मस्तिष्क मन पर क्रिया करता है। जिस प्रकार इच्छाशक्ति बाह्य-संवेदन उत्पन्न करती है, उसी प्रकार बाह्य-संवेदन इच्छाशक्ति जाग्रत् कर देता है। मस्तिष्क में से होकर मेरूदण्ड के दोनों ओर बहने वाले

---

1. द्र०- **वि०सा०** भाग 4, पृ०सं० 79
2. '*In Raja - Yoga breathing enters the psychic plane and brings us to the spiritual.*' – **'Six Lessons On Raja-Yoga'**, CW 8:420
3. '*Only when the sea is stilled to mirror - like calmness, can the reflection of the moon be seen, and only when the "mind - stuff", the Chitta is controlled to absolute calmness, is the Self to be recognised.*'- **'Six Lessons On Raja-Yoga'**, CW 8:40

दो शक्तिप्रवाह—इड़ा तथा पिंगला हैं, जो मूलाधार में एक—दूसरे का अतिक्रमण करके मस्तिष्क में लौट आते हैं। ये शक्ति—प्रवाह दिन—रात गतिशील रहते हैं, और विभिन्न केन्द्रों अथवा चक्रों में बड़ी—बड़ी जीवनी शक्तियों का संचय किया करते हैं। इन शक्ति—प्रवाहों का श्वास—क्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और योगी साधक प्राणायाम के द्वारा इनको मेरूदण्ड के तल पर संयत करके मेरूदण्ड के भीतर के केन्द्र से होकर परिचालित करते हैं। तब ये प्रवाह, ज्ञान के प्रवाह बन जाते हैं।[1]

मेरूदण्ड के तले के निकट स्थित मूलाधार चक्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह स्थल काम—शक्ति के प्रजननतत्त्व का निवास है, और योगी इसको एक त्रिकोण के भीतर छोटे से कुण्डलीकृत सर्प के प्रतीक के रूप में मानते हैं। इस प्रसुप्त सर्प को कुण्डलिनी कहते हैं। इसी कुण्डलिनी को जागरित करना ही राजयोग का प्रमुख उद्देश्य है।[2] साधक मन ही मन कल्पना करता है कि यह कुण्डलिनी क्रमशः धीरे—धीरे उठकर सर्वोच्च स्तर अर्थात् सहस्रार में पहुँच रही है। महती कामशक्ति को पशुसुलभ क्रिया से उन्नत करके मस्तिष्क में परिचालित करके वहाँ संचित करने पर वह ओजस् अर्थात् महान् आध्यात्मिक शक्ति बन

---

1. द्र॰— **वि॰सा॰** भाग 4, पृ.सं॰ 86
2. *'The nerve centre at the base of the spine near the sacrum is most important. It is the seat of the generative substance of the sexual energy and is symbolised by the Yogi as a triangle containing a tiny serpent coiled up in it. This sleeping serpent is called Kundalini, and to raise this Kundalini is the whole object of Raja-yoga.'*- **'Six Lessons On Raja-Yoga'**, CW 8:46

जाती है। इसीलिए राजयोग के साधक के लिये अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य है।[1]

प्राणायाम से श्वास–प्रश्वास क्रिया का संयम कर लेने के बाद मन को एकाग्र करना चाहिए। मन को बहिर्मुखी होने से रोककर उसे अन्तर्मुख कर किसी एक विषय पर केन्द्रित करना क्रमशः प्रत्याहार और धारणा नामक अंग हैं। इसप्रकार चंचल मन को संयत करके उसे विषयों से खींचना होगा, और उसे एक विचार में केन्द्रित करना होगा। इस क्रिया को बार–बार करना आवश्यक है। इच्छा–शक्ति द्वारा मन को वश में करके उसकी क्रिया रोककर ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिए। मन को स्थिर करने का सबसे सरल उपाय है, चुपचाप बैठ जाना और उसे कुछ क्षण के लिये जहाँ जाय, जाने देना। दृढतापूर्वक इस भाव का चिन्तन करना चाहिए कि मैं मन को विचरण करते हुए देखने वाला साक्षी हूँ। मैं मन नहीं हूँ। मन को अपने से भिन्न तथा अपने को ईश्वर से अभिन्न मानना चाहिए। प्रतिदिन मन से अपने को अभिन्न समझने का भाव कम होता जाएगा, यहाँ तक कि अन्त में साधक अपने को मन से पूरी तरह पृथक् कर सकेगा, परिणामतः मन उसके अधीन हो जाएगा। इस साधना के दौरान साधक को अधिकाधिक एकान्त–सेवन करना चाहिए।[2]

---

1. 1. *'In Raja - yoga especially, absolute chastity in thought, word, and deed is a sine qua non. The same laws apply to the married and the single. If one wastes the most potent forces of one's being, one cannot become spiritual. All history teaches us that the great seers of all ages were either monks and ascetics or those who had given up married life;* ' - **'Six Lessons On Raja-Yoga'**, CW 4:47
2. *'Live alone as much as possible.'* —वही— पृ.सं. 48

मन पर नियन्त्रण करने के उपरान्त सुषुम्णा का ध्यान करना अत्यन्त लाभदायक है। इसका चित्र भावचक्षुओं के समक्ष लाकर देर तक उसका ध्यान करना चाहिए। सुषुम्णा मेरूदण्ड का प्राणवन्त मार्ग है, जिसके द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत् होती है। सुषुम्णा मार्ग में विभिन्न सोपान हैं, जिन्हें चक्र कहते हैं। इन चक्रों के नाम हैं–**मूलाधार, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार**। कुण्डलिनी को जाग्रत् कर उसे मूलाधार चक्र से ऊपर उठाते हुए सहस्रार तक पहुँचाना चाहिए।[1]

इस त्रिकोणमण्डल को ध्यान में देखना चाहिए। साधक आँख बन्द करके सोचे कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच कुण्डलिनी सोयी पड़ी है। जब कुण्डलिनी स्पष्टरूप से दिखने लगे, तो अपनी कल्पना में इसे मूलाधार चक्र में स्थित करे और कुम्भक में श्वास को अवरूद्ध करके कुण्डलिनी को जगाने के हेतु श्वास के द्वारा उसके मस्तक पर अघात करे। जितनी ही शक्तिशाली कल्पना होगी, उतनी ही शीघ्रता से वास्तविक फल की प्राप्ति होगी और कुण्डलिनी जाग्रत् होगी। जब तक वह जाग्रत् नहीं होती तब तक यही सोचना चाहिए कि वह जाग्रत् हो चुकी है तथा शक्तिप्रवाहों को अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिए और उन्हें सुषुम्णा मार्ग में परिचालित करने का प्रयास करना चाहिए। इससे उनकी क्रिया में शीघ्रता होती है।[2]

---

1. द्र०– **वि०सा०** भाग 4, पृ०सं० 94
2. ––वही–– पृ०सं० 90

इस प्रकार मन को नियन्त्रित कर राजयोग का साधक विभिन्न क्रियाओं द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि करता है। उस अवस्था में आत्मा की महिमा अपनी पूर्ण ज्योति से प्रकाशित होती है, और साधक ज्ञानघन, अविनाशी तथा सर्वव्यापी रूप से अपने स्वरूप की उपलब्धि करते हैं।[1] इसी समाधि को अद्वैतवेदान्त की शब्दावली में वृत्तिशून्यनिर्विकल्पसमाधि कहते हैं। यही राजयोग का साधनाक्रम है।

---

1. '*...he will attain to the goal of Yoga, the complete suppression of the waves in the ocean of the mind. Then the glory of the soul, undisturbed by the distractions of the mind, or motions of the body, will shine in its full effulgence; and the Yogi will find himself as he is and as he always was, the essence of knowledge, the immortal, the all - pervading.*' - '**Dhyana And Samadhi**', CW 1:188

कर्मयोग

कोई कार्य या विचार, जो फल उत्पन्न करता है, 'कर्म' कहलाता है।[1] कर्म के नियम का अर्थ है, 'कार्य–कारण सम्बन्ध का नियम'। यदि कारण हो तो उसका फल भी अवश्य होगा। भारतीय दर्शन के अनुसार यह 'कर्मविधान' समस्त संसार में लागू है। हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं अथवा जो कुछ कर्म करते हैं, वह एक ओर तो पूर्व कर्म का फल है और दूसरी ओर वही कारण होकर अपना फल उत्पन्न करता है। प्रत्येक कर्म, चाहे हम उसे शुभ कहें या अशुभ, फलदायी होता है और इसीलिए बन्धनकारी होता है। सुखकर प्रतीत होने वाले कर्म भी अन्ततः दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। सुख और दुःख दोनों ही बन्धन हैं। जब तक हम सान्त भौतिक पदार्थों के प्रति अपनी प्रबल आसक्ति का त्याग नहीं करते, तब तक इस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। कर्मयोग इसी आसक्ति को दूर करने का सुगम और सरल पथ है।

कर्मयोग प्रवृत्ति का मार्ग है, जिसमें सभी वस्तुओं का भोग करके उनका त्याग किया जाता है।[2] निवृत्ति मार्ग के अत्यन्त कठिन होने से जनसामान्य के लिये प्रवृत्ति मार्ग अधिक ग्राह्य है। इसमें साधक को संसार में से ही होकर जाना पड़ता है, और इन बन्धनों को तोड़ने के लिये इन

---

1. *'Any work, any action, any thought that produces an effect is called a Karma.'*- **'Freedom'** CW 1:94
2. द्र॰– **वि.सा.** भाग 3, पृ॰सं॰ 71

बन्धनों की ही सहायता लेनी पड़ती है। यह भी एक प्रकार का त्याग है। अन्तर इतना ही है कि यह धीरे–धीरे, क्रमशः सब पदार्थों को जानकर, उनका भोग करके और इस प्रकार उनके सम्बन्ध में अनुभव लाभ करके प्राप्त होता है। विषयों का स्वरूप भलीभाँति जान लेने से मन अन्त में उन सबको छोड़ देने में समर्थ हो जाता है और आसक्तिशून्य हो जाता है।[1] कर्मयोग कर्म को एक विज्ञान बना लेता है, जिसके द्वारा साधक यह जान सकता है कि संसार के समस्त कार्यों का सर्वोत्तम उपयोग किस प्रकार करना चाहिए।[2] कर्म तो अनिवार्य है– करना ही पड़ेगा। किन्तु सर्वोच्च ध्येय को सम्मुख रख कर कर्म करना चाहिए। कर्मयोग साधक को यह स्वीकार करने के लिए विवश कर देता है कि इसे क्षणिक संसार से गुजरना आवश्यक है किन्तु मुक्ति इसके भीतर नहीं है, उसके लिये तो इस संसार से परे जाना होगा। अर्थात् संसार से परे जाने के मार्ग को प्राप्त करने के लिये धीरे–धीरे किन्तु दृढ कदमों से इसी संसार में से होकर जाना होगा।

कर्मयोग कहता है कि निरन्तर कर्म करो, परन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो।[3] अपने को किसी भी विषय के साथ एकरूप नहीं करना चाहिए। मन को उससे

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 3, पृ॰सं॰ 72
2. '*What is Karma-Yoga? The knowledge of the secret of work. What does it say? Work incessantly, but give up all attachment to work.... Karma-Yoga makes a science of work; you learn by it how best to utilise all the workings of this world.*'-'**Freedom**', CW 1:99
3. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 3, पृ॰सं॰ 73

सर्वथा मुक्त रखना चाहिए। सुख, दुःख क्लेशादि आसक्ति से ही उत्पन्न होते हैं, कर्म से नहीं। जैसे ही हम कर्म से स्वयं को एकरूप करते हैं वैसे ही क्लेश उत्पन्न होता है, परन्तु यदि हम अपने को उससे एकरूप न करें, तो वह क्लेश छू तक नहीं जाता। विवेकानन्द इसे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं[1] कि यदि किसी अन्य का कोई सुन्दर चित्र जल जाता है, तो देखने वाले व्यक्ति को कोई दुःख नहीं होता; परन्तु यदि उसका अपना चित्र जल जाय तो उसे दुःख होता है। यद्यपि नष्ट होने वाली वस्तु एक ही थी फिर भी पहली दशा में उस व्यक्ति को दुःख नहीं हुआ क्योंकि वह अपने को उससे पृथक् रखता है। परन्तु दूसरी दशा में वह अपने को उससे एकरूप कर लेता है, अतः दुःखी हुआ। यह 'मैं' और 'मेरा' ही आसक्ति है तथा समस्त दुःखक्लेशरूप बन्धन का जड़ –भोग –की भावना के साथ ही स्वार्थ आ जाता है और स्वार्थपरता से ही क्लेश उत्पन्न होता है। स्वार्थपरता का प्रत्येक कार्य और विचार हमें किसी न किसी वस्तु से आसक्त कर देता है और हम तुरन्त दास बन जाते हैं। हम जितना ही 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं, दासत्व का भाव उतना ही बढ़ता जाता है और हमारे क्लेश भी उतने ही अधिक बढ़ जाते हैं। अतः कर्मयोग साधक को सावधान करता है कि वह संसार के समस्त चित्रों के सौन्दर्य का आनन्द उठाए, परन्तु उनमें से किसी एक के भी साथ एकरूप न हों। कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि यह मेरा है।

कर्मयोग का साधक पहले

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 3, पृ॰सं॰ 73

इस स्वार्थपरता के अंकुर के बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट करे और जब इसको रोकने की क्षमता आ जाए, तो मन को स्वार्थपरता की ओर न जाने दे।[1] फिर वह संसार में जाकर निर्लिप्त भाव से यथाशक्ति कर्म कर सकता है। यह अनासक्ति है। अनासक्ति ही समस्त योग साधना की नींव है। केवल वही मनुष्य प्रकृति से पूरा–पूरा लाभ उठा सकता है, जो किसी वस्तु में अपने मन को अपनी समस्त शक्ति के साथ लगा देने के साथ ही अपने को स्वेच्छा से, जब उससे अलग हो जाना चाहिए तब उससे अलग कर लेने की सामर्थ्य भी रखता है। इसी प्रसङ्ग में विवेकानन्द निष्काम कर्म के प्रचलित किन्तु भ्रामक अर्थ – '*कर्म इस प्रकार किया जाय जिससे मन को हर्ष-विषाद स्पर्श न कर सके*' – का खण्डन करते हैं।[2] यदि निष्काम कर्म का यही सच्चा अर्थ हो तो पशु-पक्षी, ईंट–पत्थर इत्यादि तो बहुत बड़े निष्कामकर्मी माने जाएँगे, जिनमें सुख–दुःख की कोई भावना नहीं होती। इसके विपरीत, कर्मफलेच्छा व क्षुद्रकर्तृभाव का त्याग ही कर्मयोगी के लक्षण हैं। विवेकानन्द इस मार्ग की एक विशेषता बताते हैं कि ऐसा

---

1. *'So Karma-Yoga says, first destroy the tendency to project this tentacle of selfishness...Then you may go out into the world and work as much as you can. This is called "Vairagya", dispassion or non - attachment..... Non-attachment is the basis of all the Yogas.'* – **'Freedom'** CW 1:101
2. *'What is the meaning of working without motive? Nowadays many understand it in the sense that one is to work in such a way that neither pleasure nor pain touches his mind. If this be its real meaning, then the animals might be said to work without motive. The walls have no feelings of pleasure or pain, neither has a stone, and it cannot be said that they are working without motive.'* – **'Work Without Motive'** CW 5:247

नहीं है कि अनासक्त कर्मयोगी हर्ष–विषाद से शून्य हो जाने से कोई आनन्द नहीं प्राप्त करता। कर्मयोगी कर्म करने में ही आनन्द प्राप्त करता है।[1]

हम यदि अपने कर्मों पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि प्रत्येक कर्म का उद्देश्य स्वार्थ–साधन ही रहता है। साधक विभिन्न कार्यों को करते हुए अपने को निःस्वार्थ बनाने का प्रयत्न करे। वह कर्म–फल की प्राप्ति की इच्छा का त्याग करे। वह सिर्फ परोपकार के लिये कर्म करे। किसी कर्म में यदि थोड़ी भी स्वार्थपरता रहेगी तो वह मुक्त करने के बदले पैरों में एक और बेड़ी डाल देती है।[2] बिना किसी स्वार्थ के किया हुआ प्रत्येक सत्कार्य पैरों में एक और बेड़ी डालने के बदले पहले की ही एक बेड़ी को तोड़ देता है। समस्त कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा का त्याग कर कर्मयोग का साधक धीरे–धीरे निःस्वार्थ भाव से कर्म करने लगता है।उसके कर्म केवल कर्त्तव्यनिष्ठा से होते हैं। इसप्रकार के कर्मों के द्वारा ज्ञानलाभ का द्वार खुलता है और इस ज्ञान को प्राप्त कर के क्रमशः कर्मयोगी मुक्त हो

---

1. द्र०– **वि.सा.** भाग 9, पृ.सं. 177

2. *'Although this universe will go on always, our goal is freedom, our goal is unselfishness; and according to Karma-Yoga, that goal is to be reached through work.... The Karma-Yogi asks why you require any motive to work other than the inborn love of freedom. Be beyond the common worldly motives.* To work you have the right, but not to the fruits thereof.... *he who does good work even in order to get to heaven binds himself down, says the Karma-Yogi.'* – **'The Ideal Of Karma-Yoga'**, CW 1:116

जाता है। निःस्वार्थ कर्म के अभ्यास से शीघ्र ही कर्मयोगी साधक अनासक्त भाव को प्राप्त होता है। निष्काम कर्म का अर्थ निष्प्रयोजन कर्म नहीं है, प्रत्युत कामनारहित कर्म है। इसप्रकार के निःस्वार्थ, परार्थ और निष्काम कर्माचरण से साधक का अहम्भाव विगलित होता है, जिससे सत्त्वगुण की उद्रिक्तता होती है। जिसके फलस्वरूप यह अनुभूति मुखर होने लगती है कि अन्य सब जीवों तथा घटों में भी उसी की आत्मा की उपस्थिति है। इसप्रकार अनन्त ब्रह्म की स्फुट अनुभूति होने लगती है और आत्म–ज्ञान प्रशस्त होता है। इसी से सीधे मुक्तिलाभ होता है।

भक्तियोग

सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं।[1] इस खोज का आरम्भ मध्य और अन्त प्रेम में होता है। ईश्वर के प्रति प्रेमोन्मत्तता का एक क्षण भी हमारे लिये शाश्वत मुक्ति देने वाला होता है।

विवेकानन्द का मानना है कि भक्तियोग महान् दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है।[2] वह इसके उपायों और साधनों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध भक्त और विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य रामानुज के मत से ऐक्य रखते हैं। रामानुज के अनुसार भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से होती है।[3] रामानुज **'विवेक'** का अर्थ खाद्याखाद्यविचार करते हैं। अर्थात् जातिदोष, आश्रयदोष या निमित्तदोष– इनमें से किसी भी दोष से अशुद्ध भोजन अखाद्य है। आहार की शुद्धि से मनःशुद्धि और मनःशुद्धि से परमात्मा का सतत स्मरण होता है।[4] शंकराचार्य यहाँ आहार–शुद्धि का अर्थ 'रागद्वेषादि

---

1. द्र०– **वि॰सा॰** भाग 9, पृ॰सं॰ 177
2. *'The one great advantage of Bhakti is that it is the easiest and most natural way to reach the great divine end in view.'* – **'Definition Of Bhakti'**, CW 3:32
3. श्रीभाष्य
4. *'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः....'* – छान्दोग्योपनिषद् 7/26/2

से रहित होकर विषय का ज्ञान प्राप्त करना' करते हैं।[1] ये दोनों अर्थ ऊपर से विरोधी अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु विवेकानन्द अपनी समन्वयात्मक सूझबूझ से दोनों को ही सत्य और आवश्यक सिद्ध करते हैं।[2] सत्त्व, रजस् और तमस् –इन्हीं उपादानों से मानव देह बनी हुई है। इनमें से सत्त्व पदार्थ की प्रधानता ही आध्यात्मिक उन्नति के लिये सबसे आवश्यक है। भोजन के द्वारा व्यक्ति अपने शरीर में जिन उपादानों को लेते हैं, वे उनके मानसिक गठन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। लेकिन सूक्ष्म शरीर अथवा मन का नियन्त्रण और संयम करना स्थूल शरीर के संयम से निश्चय ही श्रेष्ठ है। इसीलिये भौतिक आहार तथा मानसिक आहार दोनों की शुद्धि आवश्यक है।

भक्तिसाधना का द्वितीय सोपान है **'विमोक'** अर्थात् इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना और उन पर नियन्त्रण। यह धार्मिक साधना की नींव है। इसके बाद है **'अभ्यास'** अर्थात् आत्मसंयम और आत्मत्याग का अभ्यास। निरन्तर ईश्वर का चिन्तन प्रारम्भ में कठिन लगता है,

---

1. '*आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाह्रियते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः।*' – **शाङ्करभाष्य**, छा॰उ॰ 7/26/2
2. '*These two explanations are apparently conflicting, yet both true and necessary. The manipulating and controlling of what may be called the finer body, viz the mind, are no doubt higher functions than the controlling of the grosser body of flesh. But the control of the grosser is absolutely necessary to enable one to arrive at the control of the finer. The beginner, therefore, must pay particular attention to all such dietetic rules as have come down from the line of his accredited teachers.*' – **'The Method And The Means'**, CW 3:66

किन्तु अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर इस प्रकार के चिन्तन की शक्ति धीरे–धीरे बढ़ती जाती है। फिर है **'क्रिया'** अर्थात् यज्ञ। पंच महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना चाहिए। **'कल्याण'** अर्थात् पवित्रता वह भित्ति है जिस पर सारा भक्तिप्रासाद खड़ा है। बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक पवित्रता के लिये सहायक मात्र हैं। भक्तियोग का अगला साधन है **'अनवसाद'** अर्थात् बल। बलिष्ठ, द्रढिष्ठ व्यक्ति ही ठीक–ठीक साधक होने योग्य है। इसी आशय का मुण्डकोपनिषद् का वचन है कि '*नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः*' ।[1] अत्यधिक आमोद में मत्त न होना ही **'अनुद्धर्ष'** है।[2]

भक्ति सभी धर्मों में है। कहीं ईश्वर की भक्ति है, तो कहीं महात्माओं के प्रति भक्ति का आदेश है। सभी जगह इस भक्तिरूप उपासना का सर्वोपरि प्रभाव देखा जाता है। सभी अवस्थाओं के लोग बड़ी सरलता से भक्तिसाधना कर सकते हैं।[3]

भगवान् के प्रति अविच्छिन्न आसक्ति के साथ हृदय और मन का अविरत और नित्य स्थिर भाव ही मनुष्य के हृदय में भगवत्प्रेम का सर्वोच्च प्रकाश है। भक्ति की पूर्वोक्त साधनाएँ पराभक्ति की प्राप्ति के लिये केवल सोपानस्वरूप है। जब उन साधनाओं के फलस्वरूप अतिशय अनुराग साधक के हृदय में उत्पन्न हो जाता है, तो उसका मन

---

1. द्र॰– मुण्डकोपनिषद् 3/2/4
2. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 4, पृ॰सं॰ 42
3. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 5, पृ॰सं॰ 248

निरन्तर भगवान् के स्मरण में ही लगा रहता है; उसका ध्यान इधर–उधर कहीं नहीं जाता। परिणामतः उसकी आत्मा पवित्रता के अभेद्य कवच से रक्षित हो जाती है तथा मानसिक एवं भौतिक समस्त बन्धनों को तोड़कर शान्त और मुक्तभाव धारण कर लेती है। उसके लिए अनुष्ठान पद्धति, प्रतिमा, शास्त्र और मत–मतान्तर इत्यादि अनावश्यक हो जाते हैं। उनके द्वारा उसे और कोई लाभ नहीं होता। वह समझ लेता है कि केवल निश्चित **'प्रतिमा या प्रतीक ही' ईश्वर नहीं है**, प्रत्युत ईश्वर प्रतिमा या प्रतीक के रूप में भी है, साथ ही अन्य सब कुछ भी ईश्वर से व्याप्त है। साधक प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर–दर्शन करता है। उसका प्रेम स्वार्थपरता को त्यागकर निःस्वार्थ हो जाता है। वह प्रेम के बदले प्रेम की अपेक्षा नहीं करता। केवल प्रेम के लिये प्रेम करना संसार में निस्सन्देह प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है और यही पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम है। इस प्रकार का प्रेम जब आध्यात्मिकता के क्षेत्र में कार्य करने लगता है, तो साधक को पराभक्ति की उपलब्धि होती है।[1]

भक्ति की प्रथम अवस्था में साधक भक्त ईश्वर को प्रभु और स्वयं को दास समझता है। उन्नत अवस्था में वह ईश्वर को प्रेम का मूर्त रूप मानता है। यही प्रेमस्वरूपईश्वर ही भक्तियोगी का उपास्य है। जब तक साधक उसे स्रष्टा, पालनकर्ता आदि समझता है, तब तक उसके बाह्य पूजा इत्यादि की आवश्यकता है, किन्तु जिस समय इन सारी भावनाओं का परित्याग कर उसे प्रेम का अवतारस्वरूप समझता है एवं

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 4, पृ॰सं॰ 61

पराभक्ति प्राप्त होती है।[1] पूर्ण भक्ति के उदित होने पर पूर्णज्ञान भी मिल जाता है।[2] और साधक तत्क्षण मुक्त हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में भक्तियोग का पर्यवसान 'पराभक्ति' में होता है और पराभक्ति और 'पूर्णज्ञान' में कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के वैदिक उद्घोष का खण्डन भक्तियोग से मोक्षप्राप्ति मानने पर बिल्कुल नहीं होता। इस बात का निर्णय देते हुए विवेकानन्द जी कहते हैं[3]:–

" *गौणज्ञान और गौणभक्ति का लेकर ही विवाद उपस्थित होता है....परन्तु मुख्य भक्ति और मुख्यज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मुख्यभक्ति का अर्थ है– भगवान् की प्रेम के रूप में उपलब्धि करना....और मुख्यज्ञान का अर्थ है सर्वत्र एकत्व की अनुभूति, आत्मस्वरूप का सर्वत्र दर्शन....जिसे प्रेम कहते हैं, वही परमज्ञान है। पूर्णप्रज्ञ न होने पर किसी को प्रेमानुभूति नहीं होती। वेदान्तशास्त्र में ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' कहा है। उस सच्चिदानन्द शब्द का अर्थ है– 'सत्' यानी अस्तित्व, 'चित्' अर्थात् चैतन्य या ज्ञान और 'आनन्द' अर्थात् प्रेम। भगवान् के 'सत्' भाव के विषय में भक्त व ज्ञानी के बीच में कोई विवाद नहीं है परन्तु ज्ञानमार्गी ब्रह्म के चित् स्वरूप या चैतन्य 'सत्ता' पर*

---

1. द्र॰– **वि.सा.** भाग 5, पृ.सं. 256
2. *'Each seems to lay a great stress upon his own peculiar method of worship, forgetting that with perfect love true knowledge is bound to come even unsought, and that from perfect knowledge true love is inseparable.'* –'**Definition Of Bhakti**', CW 3:34
3. द्र॰– **वि.सा.** भाग 6, पृ.सं. 136–137

ही सदा अधिक ज़ोर देते हैं और भक्तगण सदा 'आनन्द' सत्ता पर दृष्टि रखते हैं। परन्तु चित् स्वरूप की अनुभूति होने के साथ ही आनन्दस्वरूप की भी उपलब्धि हो जाती है, क्योंकि जो 'चित्' है वही 'आनन्द' है....जपध्यान,पूजा होम आदि समस्त अङ्ग हैं, उपाय हैं और पराभक्ति अथवा परब्रह्मस्वरूप–दर्शन ही मुख्य उद्देश्य है।..........भक्ति और ज्ञानशास्त्र दोनों ही एक–एक निष्ठा को जीवन में लाने के लिए मनुष्य को विशद रूप से उपदेश कर रहे हैं।'

ज्ञानयोग

अद्वैतवेदान्त की परम्परागत साधना ज्ञानयोग है। शंकराचार्य इत्यादि पूर्वाचार्यों की तरह स्वामी विवेकानन्द भी ज्ञानयोग के साधकों के लिये कुछ पूर्वापेक्षाओं की बात कहते हैं। ज्ञानयोग की साधना कठिनतम होने से इसका अधिकार कतिपय विशिष्ट लोगों को ही है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि ज्ञानयोग की साधना के सच्चे अधिकारी वे लोग हैं[1] जो– इस जीवन में और परजीवन में सब प्रकार के कर्मफल और सब प्रकार की भोगवासना का त्याग कर चुके हैं। जो वेदान्त–शास्त्र का अर्थबोध कर सकने के लिए उपयोगी शमदमादि षट्साधनसम्पत्ति से युक्त हों। जिनमें मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा हो। साथ ही, जो नित्यानित्य विवेकवान् हों अर्थात् जिन्हें यह भेद मालूम हो कि सत्य क्या है, मिथ्या क्या है और कौन चिरन्तन है तथा क्या नश्वर है। ज्ञानयोग का साधक शमदमादि साधनसम्पत्ति से युक्त होना चाहिए। मन को बहिर्मुख होने से रोकना **'शम'** है और इन्द्रियों के बाहरी साधनों के निग्रह का नाम **'दम'** है। इन्द्रिय–विषयों का चिन्तन न करना **'उपरति'** है। 'तितिक्षा' आदर्श सहनशीलता की स्थिति है। ईश्वर में अटूट विश्वास **'श्रद्धा'** है और ईश्वर में अपने चित्त को निरन्तर स्थापित करने का अभ्यास **'समाधान'** है।[2]

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 8, पृ॰सं॰ 78, तथा भाग 3, पृ॰सं॰ 99

2. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 3, पृ॰सं॰ 100–101

विवेकानन्द का निश्चित मत है कि सम्पूर्ण ज्ञान हममें निहित है। सारी पूर्णता आत्मा में पहले से ही विद्यमान है। किन्तु यह पूर्णत्व प्रकृति से ढका हुआ है। साधनचतुष्टयसम्पन्नप्रमाता की साधना प्रकृति के इस परदे को दूर कर देती है और आत्मा अपने नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त रूप में प्रकट हो जाती है।[1] ज्ञानयोग विचार का मार्ग है। यह निवृत्ति का मार्ग है। इसमें **'नेति' 'नेति'** करते हुए सर्वस्व का त्याग करना पड़ता है। यह केवल प्रबल इच्छा शक्ति सम्पन्न तथा विशेष उन्नत महापुरुष के लिये ही साध्य है।[2] ज्ञानयोग का उद्देश्य वही है जो भक्तियोग और राजयोग का है, किन्तु प्रक्रिया भिन्न है।[3] यह योग दृढसाधकों के लिये है, जो न तो रहस्यवादी हैं, न भक्तिमान् बल्कि बौद्धिक हैं। जिस प्रकार भक्तियोगी प्रेम और भक्ति के द्वारा उस सर्वोपरि परमसत्ता से पूर्ण एकता की सिद्धि का अपना मार्ग ढूँढ लेता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार का अपना मार्ग प्रशस्त करता है।[4]

---

1. '*All knowledge is within us. All perfection is there already in the soul. But this perfection has been covered up by nature; layer after layer of nature is covering this purity of the soul. What have we to do? Really we do not develop our souls at all. What can develop the perfect? We simply take the veil off; and the soul manifests itself in its pristine purity, its natural, innate freedom.*'- '**Steps To Realisation**', CW 1:412
2. द्र०– **वि.सा.** भाग 3, पृ.सं. 71
3. '*The object of Jnana - Yoga is the same as that of Bhakti and Raja Yogas, but the method is different.*'-' **discourses On Jnana-Yoga**', CW 8:3
4. द्र०– **वि.सा.** भाग 6, पृ.सं. 253

ज्ञानयोग के साधक को ऐहिक या पारलौकिक सभी कामनाओं को निकाल फेंकने के लिए तत्पर रहना चाहिए और केवल मोक्ष–लाभ के लिये कृतनिश्चय होना चाहिए। ज्ञान के बिना मोक्ष लाभ नहीं हो सकता।[1] तो फिर यह ज्ञान क्या है ? अपने यथार्थ–रूप का साक्षात् कर ब्रह्म से अभिन्नत्व–बोध ही ज्ञान है।[2] ज्ञानयोग की साधना के उपनिषद् में उल्लिखित निर्देश से विवेकानन्द एकमत हैं।[3] पहले आत्मा के सम्बन्ध में सुनना पड़ेगा– फिर श्रुत विषयों पर मनन करना होगा। उनको अच्छी तरह से समझने पर मन में उनकी एक छाप पड़ जायेगी। इसके बाद उनका ध्यान और उपलब्धि करनी पड़ेगी– जब तक कि समस्त जीवन तद्भावभावित न हो जाए। उस अवस्था में **'अहं ब्रह्मास्मि'** मात्र पुस्तकीयसूत्र या वाणी का विषय न रहकर अनुभूतिस्वरूप हो जाएगा।[4]

साधना आरम्भ करने के पहले मन में जितने प्रकार के सन्देह आ सकते हैं, साधक सबका निराकरण कर ले।

---

1. '*Without Jnana (knowledge) liberation cannot be ours.*'- '**Discourses On Jnana-Yoga**', CW 8:3
2. 'It consists in knowing what we really are, that we are beyond fear, beyond birth, beyond death.' - ––वही–– पृ.सं. 3
3. *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः .....'* – **'बृहदारण्यकोपनिषद्'** 4/5/6 *"How? 'This Atman has first to be heard, then reasoned upon, and then meditated upon.' This is the method of the Advaita Jnani. The truth has to be heard, then reflected upon and then to be constantly asserted. Think always, 'I am Brahman.'"* - '**One Existence Appearing As Many**', CW 3:25
4. द्र.– **वि.सा.** भाग 6, पृ.सं. 296 तथा भाग 3, पृ.सं. 158

युक्ति, तर्क–विचार जहाँ तक कर सके, करे। इसके पश्चात् जब मन में दृढ़ निश्चय कर ले कि यही एवं केवल यही सत्य है, और कुछ नहीं है, तब फिर कोई तर्क न करे।[1] ज्ञानयोग के साधक का ध्यान दो प्रकार का होता है[2] –

(1) हर ऐसी वस्तु से विचार हटाना और उसे अस्वीकार करना जो वास्तविक 'नहीं' है।

(2) केवल उसी पर दृढ रहना जो कि वास्तव में वह 'है' और वह है आत्मा– केवल एक सच्चिदानन्द ब्रह्म।

साधक निरन्तर विचार करे कि **'मै शरीर नहीं हूँ, मै मन नहीं हूँ, मै विचार नहीं हूँ, मै आत्मा हूँ।''** साधक देह मन विषयक सब प्रकार के विचार दूर करे। शरीरादि की अनित्यता तथा आत्मतत्त्व की नित्यता का विचार करते हुए ज्ञानयोगी मन पर बलपूर्वक आघात कर कहे कि वह शरीर नहीं आत्मा है। रोग या मृत्यु शरीर को नष्ट कर सकते हैं, आत्मा को नहीं। शरीर रहे या जाये 'वह' रहेगा, क्योंकि वह आत्मा है। देह–भाव से रहित होने पर साधक को जगन्मिथ्यात्व का भी भान हो जाता है।[3]

---

1. द्र.– **वि.सा.** भाग 6, पृ.सं. 298

2. *'The Jnani's meditation is of two sorts: (1) to deny and think away everything we are not; (2) to insist upon what we really are -- the Atman, the One Self -- existence, Knowledge, and Bliss.'*- **'Discourses On Jnana-Yoga'**, CW 8:4

3. *' The moment you get rid of the idea that you are the body, you do not see the world at all; it vanishes forever. The Jnani seeks to tear himself away from this bondage of matter by the force of intellectual conviction.'* –**'One Existence Appearing As Many'**, CW 3:28

जगत् के उपादान तथा निमित्त कारण पर विचार करते करते साधक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सभी जागतिक पदार्थ एक ही सद्वस्तु के प्रतीयमान बहुरूप हैं। और वह सद्वस्तु ही परमतत्त्व या ब्रह्म है। तात्त्विक एकता ज्ञानयोग की नींव है, उसे ही अद्वैतवाद कहते हैं।[1] वेदान्त दर्शन की यह आधारशिला है। इस अवस्था में साधक का मूल मन्त्र है **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**। केवल यही विचार करते–करते साधक समस्त द्वैतभाव से, शुभ–अशुभ, सुख और दुःख से ऊपर उठ जाता है। इस विचार को अभ्यास से निरन्तर दृढ करके साधक अपने को शाश्वत, अपरिवर्तनशील, असीम तथा एकमेवाद्वितीय ब्रह्म के रूप में जान जाता है और मुक्त हो जाता है। यही ज्ञानयोग का लक्ष्य है।

राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग, अधिकारीभेद से सभी मुमुक्षु साधक के लिए सर्वथा उपयोगी कहे गये हैं। इनमें से किसी भी मार्ग का अवलम्बन करके मोक्षप्राप्ति के लिए अग्रसर हुआ जा सकता है। पर एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि अन्ततः ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है। यदि जीव को अपनी ब्रह्मरूपता की अनुभूति पूर्णतः न हुई तो मोक्ष मिलना असम्भव है। इसलिए उपायरूप में चाहे उक्त मार्गों में से जो मार्ग अपनाया जाय उसका अन्तिम प्रतिफलन ब्रह्मज्ञ होने में ही है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने अपने प्रमुख शिष्य शरच्चन्द्र

---

1. *'Abstract unity is the foundation of Jnana-yoga. This is called Advaitism ("without dualism or dvaitism"). This is the corner-stone of the Vedanta philosophy, the Alpha and the Omega.'* - **'Discourses On Jnana-Yoga'**, CW 8:5

चक्रवर्ती से बेलूड़मठ में (1899 ई॰ में) कहा था :– '*असल बात तो यही है कि ब्रह्मज्ञ बनना ही चरम लक्ष्य है,परम पुरुषार्थ है। परन्तु मनुष्य तो हर समय ब्रह्म में स्थित रह नहीं सकता। व्युत्थान के समय कुछ लेकर तो रहना होगा। उस समय ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे लोगों का कल्याण हो। इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ अभेदबुद्धि से जीव की सेवारूपी कर्म करो। परन्तु भैया, कर्म के ऐसे दाँवपेंच हैं कि बड़े–बड़े साधु भी इससे आबद्ध हो जाते हैं। इसीलिए फल की आकांक्षा से शून्य होकर कर्म करना चाहिए। गीता में यही बात कही गयी है। परन्तु यह समझ ले कि ब्रह्मज्ञान में कर्म का अनुप्रवेश भी नहीं है। सत्कर्म के द्वारा बहुत हुआ तो चित्तशुद्धि होती है। इसीलिए भाष्यकार (शङ्कराचार्य) ने ज्ञानकर्मसमुच्चय के प्रति इतना तीव्र कटाक्ष– इतना दोषारोपण किया है। निष्कामकर्म से किसी–किसी को ब्रह्मज्ञान हो सकता है। यह भी एक उपाय अवश्य हे, परन्तु उद्‌देश्य है ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति। इस बात को भलीभाँति जान ले–विचारमार्ग (ज्ञानयोग) तथा अन्य सभी प्रकार की साधना (राजयोग, भक्तियोग और कर्मयोग) का फल है ब्रह्मज्ञता प्राप्त करना।* [1]

सब पथों में साधना करते–करते भी किसी–किसी को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्तिमार्ग के द्वारा धीरे–धीरे उन्नति होकर देर में फल प्राप्त होता है– परन्तु मार्ग है सरल। (राज)योग में अनेक विघ्न हैं। सम्भव है कि मन सिद्धियों में चला जाय और असली स्वरूप में न पहुँच सके। एकमात्र

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग 6, पृ॰सं॰ 167

ज्ञानमार्ग ही आशुफलदायक है और सभी मतों का संस्थापक होने के कारण सर्वकाल में, सभी देशों में समान रूप से सम्मानित है। परन्तु विचारपथ (ज्ञानमार्ग) में चलते–चलते भी मन ऐसे तर्कजाल में बद्ध हो सकता है, जिससे निकलना कठिन है। इसीलिए साथ ही साथ ध्यान भी करते जाना चाहिए। विचार और ध्यान के बल पर उद्देश्य में अर्थात् ब्रह्मतत्त्व में पहुँचना होगा। इसप्रकार साधना करने से गन्तव्य स्थल पर ठीक–ठीक पहुँचा जा सकता है। यही मेरी सम्मति में सरल तथा शीघ्रफलदायक मार्ग है।'[1]

उक्त दोनों उद्धरणों से यह बात साफ–साफ सिद्ध होती है कि स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में बिना ब्रह्मज्ञान के मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्षमार्ग के रूप में प्रतिपादित चारों योग– राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग– वस्तुतः ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग हैं। सीधे मोक्ष की प्राप्ति के उपाय न होकर ये सीधे ब्रह्मज्ञान के उपाय हैं और इनके द्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञान सीधा मोक्षोपाय है। उनकी दृष्टि में कर्मयोग की अपरिहार्यता भी स्वीकरणीय है, क्योंकि गीता में यह तथ्य स्पष्टतः प्रतिपादित है कि 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'।[2] ऊँचे से ऊँचा ज्ञानमार्गी या राजयोगी अथवा भक्तिमार्गी भी ब्रह्म–चिन्तन या समाधि या भक्तिभावभूमि से व्युत्थान की स्थिति में आने पर कर्म करने के लिए विवश है। इसीप्रकार ज्ञानयोग में सुलभ तर्कजालों के आघातों

---

1. द्र०– **वि॰सा॰** भाग 6, पृ॰सं॰ 168

2. द्र०– **श्रीमद्भगवद्गीता** 3/5

से बचने के लिए राजयोगमार्ग के अङ्गभूत ध्यान का समन्वय सर्वथा उपादेय बताया गया है। इसप्रकार की समन्वित साधना से ब्रह्मज्ञता की स्थिति प्राप्त करना अत्यन्त सुकर तथा सुनिश्चित है। अधिकारी–भेद से उक्त चारों मार्गों में से चाहे जिसे अपनाया जाय– सबका आख़िरी पड़ाव ब्रह्मज्ञान ही है। ब्रह्मज्ञान के माध्यम से ही ये मार्ग मोक्ष की सिद्धि करते हैं। विवेकानन्द जी ज्ञानमार्ग की सार्वभौमिकता और सार्वजनीनता को प्रतिपादित करते हुए भी (राज) योगमार्ग से उसके समन्वय को ही शीघ्रफलदायी और अमोघ बताते हैं।

साधन मार्ग समन्वय

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस शास्त्र वचन में 'ज्ञान' से तात्पर्य जीव–ब्रह्मैक्य ज्ञान से है। इस ज्ञान की प्राप्ति के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। विवेकानन्द भी इस ज्ञान की लब्धि को अनिवार्य मानते हैं। जहाँ परम्परागत अद्वैतवेदान्ती ज्ञान की लब्धि 'श्रवणमनननिदिध्यासन' परक साधना से ही मानते हैं, वहीं विवेकानन्द ज्ञानप्राप्ति के चार मार्ग बताते हैं–ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग तथा राजयोग। विवेकानन्द इस बात पर ज़ोर देते हैं कि चारों मार्गों का एक ही लक्ष्य, एक ही फल है। चारों ही मार्गों के साधकों को साधना के अन्त में अद्वैत–ज्ञान की उपलब्धि होती है।

उपनिषद् में ज्ञानयोग की साधना पराविद्या कही गयी है, जिसके द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है। विवेकानन्द कहते हैं कि यह पराविद्या एवं भक्तियोग साधना की अन्तिम अवस्था 'पराभक्ति' एक ही है। उनके अनुसार भक्तियोग का साधक धीरे–धीरे सभी सम्बन्धियों माता–पिता–पुत्र–मित्रादि का भाव लेकर अपने प्रेम के आदर्श भगवान् के प्रति उन सबको आरोपित करता जाता है। फिर वह सारे जगत् में ही भगवान को देखता है। अन्त में वह अपने उपास्य भगवान् में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाता है तब वह इस सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद तीनों एक हैं।

---

1. द्र०– **वि.सा.**, भाग 4, पृ.सं. 60
2. द्र०– **वि.सा.**, भाग 4, पृ.सं. 76

यह वही अद्वैत ज्ञान है, जो ज्ञानयोग के साधक को प्राप्त होता है। इसी बात को विवेकानन्द गूढ शब्दों में कहते हैं कि जहाँ स्वयं ब्रह्म ही उपास्य होता है और प्रतीक उसके संकेत का कारण मात्र होता है अर्थात् जहाँ प्रतीक को प्रतीक मात्र न देखकर उसका जगत्कारण ब्रह्म के रूप में चिन्तन किया जाता है, वहाँ उपासना निश्चित तौर पर फलवती होती है।[1] पराभक्ति की अवस्था में उपासना सिर्फ कर्मानुष्ठान नहीं है। यह चिन्तन है और वह भी ब्रह्म का। ज्ञानयोगी का मनन भी ब्रह्म का चिन्तन है। जब ज्ञानयोग में ब्रह्म का चिन्तन अद्वैत ज्ञानोपलब्धि कराता है तो भक्तियोग में ब्रह्म का चिन्तन भी अवश्य ही अद्वैत ज्ञानोपलब्धि कराएगा।

विवेकानन्द का मानना है कि अद्वैत ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि जीव इस क्षुद्र जगत् व जागतिक पदार्थ से अपनी आसक्ति न हटा ले। शास्त्रों में जगत् के प्रति आसक्ति त्यागने के दो उपाय बताए गये हैं– नेति–नेति का निवृत्तिमार्ग और इति–इति का प्रवृत्तिमार्ग। प्रथम मार्ग ज्ञानयोग का है, तथा द्वितीय मार्ग कर्मयोग का। कर्मयोग में सभी पदार्थों को भोग कर उनको भलीभाँति जानकर साधक धीरे–धीरे आसक्तिशून्य हो जाता है।[2] वह फलाकांक्षादि सभी कामनाओं से रहित होकर सिर्फ कर्त्तव्यनिष्ठा से कर्म करता है। ऐसे कर्मों के द्वारा ज्ञान लाभ होता है और इस ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है।[3] इस प्रकार कर्मयोग भी अद्वैतज्ञान तक ले जाता है।

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰**, भाग 4, पृ॰सं॰ 33
2. द्र॰– **वि॰सा॰**, भाग 3, पृ॰सं॰ 71–72
3. द्र॰– **वि॰सा॰**, भाग 7, पृ॰सं॰ 76

राजयोग का साधक यमनियमादि सोपानों को पार करते हुए ध्यान के द्वारा समाध्यवस्था में प्रविष्ट होता है। यहीं उन्हें मुक्तिप्रद परमज्ञान प्राप्त होता है और यही योग का लक्ष्य भी है। तभी मन के नाना प्रकार के विक्षेप एवं नाना प्रकार की दैहिक गतियों से विचलित न होकर आत्मा की महिमा अपनी पूर्ण ज्योति से प्रकाशित होगी। तब योगी ज्ञानघन, अविनाशी और सर्वव्यापी रूप से अपने स्वरूप की उपलब्धि करते हैं।

स्पष्ट है कि मुक्ति प्राप्ति के चारों ही मार्गों के साधक अनिवार्य रूप से ज्ञानोपलब्धि करते हैं, और वह ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इसलिये विवेकानन्द पर यह आक्षेप करना ग़लत है कि वह ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति तथा कर्म को भी मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन मानते हैं।

चतुर्थ अध्याय

विवेकानन्द

का

व्यावहारिक वेदान्त

विवेकानन्द का सार्वभौम धर्म अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त

स्वामी विवेकानन्द ने अपने पूज्यगुरु श्रीरामकृष्ण की आन्तरिक प्रेरणा से जिस धर्म का देश–विदेश सर्वत्र प्रचार किया वह किस रूप का और क्या था? न वह हिन्दूधर्म था, न इस्लाम, न बौद्ध, न सिखधर्म, न जैनधर्म। वह अपने मूलरूप में औपनिषद् धर्म था अर्थात् उपनिषदों पर आधारित वेदान्तधर्म था। यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि यह वेदान्तधर्म 'अद्वैतवेदान्त'दर्शन का प्रयोगात्मक–पक्ष ही था। शब्दान्तर से उसे **'व्यावहारिक वेदान्त'** कहा जा सकता है। इसमें न तो आचार्यशङ्कर के अद्वैतवेदान्त की शुष्कता या हृदयहीनता थी और न ही रामानुज के विशिष्टाद्वैत की तार्किक विसंगति। वास्तव में, विवेकानन्द की कृतियों का लक्ष्य लोगों को वेदान्त–दर्शन के सिद्धान्तों से अवगत कराना ही नहीं था, अपितु इसके व्यावहारिक पक्ष को उजागर करना भी था । जगत् में ऐसे सिद्धान्त भी होते हैं जो तार्किक दृष्टि से बिल्कुल ठीक होते हैं, किन्तु उन्हें कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता। और यदि वे कार्यरूप में परिणत न हो सके, तो सिवा बौद्धिक व्यायाम के उनका कोई मूल्य नहीं है । अतः विवेकानन्द ने भलीभाँति जान लिया था कि वेदान्त तभी सार्वभौम धर्म हो सकता है, जब वह सम्पूर्ण रूप से व्यावहारिक हो । यही बिन्दु विवेकानन्द के दार्शनिक चिन्तन का मूलमन्त्र है ।

विवेकानन्द विभिन्न दार्शनिक मतवादों के अध्ययन–आलोचन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ***अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर सर्वाधिक खरे हैं*** । बड़ी से बड़ी युक्तियाँ भी इसके सिद्धान्तों के मज़बूत स्तम्भों को हिलाने में सर्वथा असमर्थ हैं । यह दर्शन उनकी सभी दार्शनिक जिज्ञासाओं का

सन्तोषजनक समाधान करने में सक्षम सिद्ध हुआ । लेकिन आत्मसन्तोष या केवल अपना मोक्ष उनका इष्ट नहीं था । वह तो सभी मनुष्यों की मुक्ति पहले चाहते थे। उनका लक्ष्य था प्रत्येक व्यक्ति को उसके दिव्य–स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना । यह कार्य सरल नहीं था । अद्वैतवेदान्त यद्यपि अकाट्य तर्कों पर आधारित है, लेकिन इसे समझने की क्षमता हर किसी के पास नहीं है। वेदान्त सम्प्रदाय के शंकर आदि आचार्यों द्वारा शास्त्रवचनों और स्वानुभव के आधार पर, अपने दिव्यस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष– हेतु, ज्ञानयोग की साधना को ही एकमात्र मार्ग बताया गया है । यह साधना तभी फलवती हो सकती है, जब साधक कतिपय पूर्वापेक्षाओं से युक्त हो । यह पूर्वापेक्षाएँ ही समग्र रूप में साधनचतुष्टय कही जाती हैं । इस प्रकार साधनचतुष्टसम्पन्नप्रमाता ही वेदान्त साधना का सच्चा अधिकारी है । लेकिन इस प्रकार के अधिकारी कितने हो सकते हैं। इस पूर्वापेक्षा के कारण तो उँगलियों पर गिने जा सकने वाले लोग ही अद्वैतज्ञान या मुक्ति पा सकते हैं । तब फिर अधिकांश जनों का कल्याण किस प्रकार होगा ? उनके लिये क्या कोई साधना– मार्ग है ?

कट्टर वेदान्तीगण तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा की जटिल समस्याओं का सर्वाधिक तर्कपूर्ण समाधान अद्वैत सिद्धान्त में ही पाते थे। अतः वह अद्वैत के सिद्धान्तों को बिल्कुल छोड़ने को तैयार नहीं थे । *'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'* के प्रबल समर्थक इन अद्वैतवादियों के मत में सर्वकर्मसंन्यास कर चुके साधक द्वारा श्रवणमनननिदिध्यासन से ही ज्ञान और तदुपरान्त मुक्ति सम्भव है । उपासना और कर्म चित्तशुद्धि ही करते हैं; मोक्षप्रद नहीं हैं। अतः मोक्ष सिर्फ साधनचतुष्टयसम्पन्नप्रमाता के लिये

ही है। जिसे मुक्तिलाभ की चाह है उसे इस दुर्गम तथा क्षुर–धार के समान तेज़ धार वाले तत्त्वमीमांसा–मार्ग पर चलना ही होगा। उसे विविदिषासंन्यास लेना ही पड़ेगा।

किन्तु उदार वेदान्ती सभी के लिये मुक्ति का मार्ग खोलना चाहते थे । फलतः उन्हें अद्वैत–सिद्धान्त के अधिकारी–वाद को त्यागना पड़ा। इससे उनका दार्शनिक पक्ष *'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'* प्रस्तुत हुआ। साथ ही अधिकाधिक जनों के लिये दुःख–कष्टादि कम करने का मार्ग खुल गया। इस श्रेणी के वेदान्ती विचारकों का आपस में कुछ प्रमुख–सिद्धान्तों में थोड़ा बहुत मतभेद अवश्य है, लेकिन भक्तिमार्ग की साधना से भी मोक्ष–प्राप्ति होने के विषय में पर सब एकमत हैं। भक्तिवादीवेदान्तियों के सम्मुख दो विवशताएँ थीं, प्रथम तो उन्हें जगत् को वास्तविक मानना पड़ा और द्वितीय, उन्हें अद्वैत–सिद्धान्त का खण्डन करना पड़ा, जिसमें अनिवार्य रूप से मायावाद भी शामिल हैं । इन विवशताओं से भक्तिवादीवेदान्त का तार्किक दृष्टि से कमज़ोर आधार प्रकट हुआ और विद्वानों का इसके प्रति आकर्षण घट गया। 19वीं शताब्दी में महान् सन्त रामकृष्णपरमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने इन वेदान्त मतों का सुन्दर समन्वय़ प्रस्तुत किया। विशेषतः स्वामी विवेकानन्द अद्वैतवेदान्त की आधारशिला पर समस्त प्रकार के साधना–पथों का मंजुल समन्वय करते हैं। साथ ही भावप्रवण साधकों के दृष्टिकोण को भी शास्त्र–सम्मत सिद्ध करते हैं। शिवमहिम्नस्तोत्र की पंक्तियों से प्रेरणा लेते हुए उन्होंने अपने सार्वभौमधर्म या व्यावहारिक वेदान्त की भी जड़ उपनिषदों में ढूँढ़ निकाली। श्वेतकेतु, सत्यकामजाबालि आदि के उपाख्यानों से वे सिद्ध करते हैं कि वेदान्तदर्शन केवल गुफा–कन्दरा या अरण्यभूमि में ही ध्यान–धारणा के द्वारा

नहीं आविष्कृत किया गया, किन्तु उसके सर्वोत्कृष्ट भिन्न–भिन्न अंश सांसारिक कर्मों में विशेष व्यस्त मनीषी लोगों द्वारा ही चिन्तित तथा प्रकाशित किये गये । लाखों मनुष्यों के निरंकुश शासक इन राजाओं की अपेक्षा अधिक कार्यव्यस्त और कौन हो सकता है ? किन्तु इन शासकों में से कुछ गम्भीर चिन्तक भी थे । इन सब बातों से यही स्पष्ट होता है कि वेदान्त दर्शन व्यावहारिक है।[1]

यह समन्वयात्मक व्यावहारिक वेदान्तदर्शन ही विवेकानन्द की कृतियों में 'वेदान्त–धर्म' या 'सार्वभौम–धर्म' (universal religion) के नाम से उजागर हुआ है। इसे आधुनिक विद्वान् व्यावहारिक वेदान्त कहना पसन्द करते हैं। विवेकानन्द के अनुसार इस संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं। वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न–भिन्न भाव मात्र हैं।[2] हमें विचारों की विविधता को स्वीकार करना चाहिए, इसीलिए किसी व्यक्ति को किसी एक विशेष–धर्म का अनुयायी बनने के लिये प्रेरित नहीं किया जाना चाहिए। सभी धर्म और सम्प्रदाय एक ही ईश्वर तक पहुँच रहे हैं, जैसे कि बहुत सी नदियाँ विभिन्न मार्गों से होते हुए एक ही समुद्र में गिरती हैं।[3] (अद्वैत) वेदान्त ही वह शाश्वत या सार्वभौम धर्म है, क्योंकि यह मानव की दृष्टि की संकीर्णता को दूर करता हुआ, उसे उसके दिव्यत्व का बोध कराते हुए विश्व–एकत्व का

---

1. द्रष्टव्य- **वि.सा.** खण्ड–8, पृ.सं. 4
2. द्रष्टव्य- **वि.सा.** खण्ड–7, पृ.सं. 261
3. द्रष्टव्य- **वि.सा.** खण्ड–1, पृ.सं. 4

प्रतिपादन करता है। उनका अभिमत है कि जब मनुष्य उच्चतम को प्राप्त कर लेता है तो वह स्त्री–पुरूष, लिंग–वर्ण इत्यादि विभेद नहीं देखता, वरन् आगे बढ़कर उस दिव्यता का अनुभव करता है, जो मानव का सत्यस्वरूप है–केवल तभी वह विश्वएकत्व को प्राप्त करता है और ऐसा ही व्यक्ति वेदान्ती है।

हिन्दू–इस्लाम–ईसाई इत्यादि विविध धर्म इस सार्वभौम धर्म की विभिन्न शाखाएँ हैं। धर्म के सार्वभौम स्वरूप में प्रत्येक धर्म का महत्त्व है। इन शाखा सदृश धर्मों का अस्तित्व इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन की प्रकृति व प्रवृत्ति एक ही नहीं होती। इस भिन्नता के कारण उनके लिये उपयुक्त उपायों की भिन्नता भी स्वाभाविक है। वेदान्त धर्म सिद्धान्त–मात्र नहीं है। वेदान्त व्यवहार की वस्तु है, अनुभव की वस्तु है। वेदान्त को सिद्धान्तों और दार्शनिक परिचर्चाओं तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए, बल्कि उसे दैनन्दिन व्यवहार में परिणत करना चाहिए। वेदान्त को व्यवहार में लाकर मनुष्य को अपने मुक्त होने की प्रवृत्ति पूर्ण करने के प्रयास को जारी रखना चाहिए।

विवेकानन्द के अनुसार जो दर्शन मनुष्य के दैनिक जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं करता, जो धर्म उसके छोटे–छोटे कार्यों में भी उपयोगी नहीं है, वह वर्तमान युग में व्यर्थ है। आज वेदान्त की आवश्यकता केवल जंगल या गुफाओं में बैठकर चिन्तन करने के लिये नहीं है, बल्कि उनको व्यावहारिक जीवन में उतार कर सभी के जीवन को उन्नत करने का प्रयास करना चाहिए।[1] यह सार्वभौम धर्म या व्यावहारिक

---

1. द्र॰- **वि॰सा॰** खण्ड–4, पृ॰सं॰ 12

वेदान्त न केवल द्वैत–विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैतवाद का सुन्दर समन्वय है, अपितु इसमें मुक्ति के विभिन्न मार्गों का भी बेजोड़ सामंजस्य प्राप्त होता है और यही विशेषताएँ इसे पूर्णतः व्यावहारिक एवं प्रासंगिक बनाती हैं।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब सभी धर्मों का मूल व लक्ष्य एक है तो धर्म-विषयक विवाद क्यों है? धर्म के नाम पर संसार में इतना संघर्ष क्यों हुआ? उनमें सामंजस्य का अभाव क्यों है? स्वामी विवेकानन्द इसका कारण स्पष्ट करते है[1] कि सभी धर्मों में एक दार्शनिक पक्ष होता है और एक आनुष्ठानिक पक्ष होता है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से सभी धर्मों का लक्ष्य उस परमतत्त्व की प्राप्ति ही है, तथापि आनुष्ठानिक पक्ष में भिन्नता होती है। जब व्यक्ति धर्म के दार्शनिक पक्ष की उपेक्षा करके विभिन्न अनुष्ठानों तथा कर्मकाण्डों को ही लक्ष्य मान लेता है, तभी धार्मिक विवाद खड़े होते हैं। जहाँ अन्य धर्म सर्वमान्य दार्शनिक पक्ष के अलावा सिर्फ अपने अनुष्ठानों तथा कर्मकाण्ड को सही मानते हैं, अन्य धर्मों के आनुष्ठानिक पक्ष का खण्डन व निन्दा करते हैं, वहीं वेदान्त धर्म सभी धर्मो के आनुष्ठानिक पक्ष को स्वीकार्यता प्रदान करता है। ऐसा होना सम्भव ही नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही साधनापद्धति और अनुष्ठानादि को स्वीकार करे। क्योंकि जिस तरह से सभी मनुष्य एक ही रंग–रूप कद–काठी के नहीं हो सकते, उसी तरह से सारे संसार में एक ही सैद्धान्तिक विश्वास और एक ही अनुष्ठान–पद्धति प्रचलित नहीं हो सकती। वैषम्य और वैचित्र्य में ही सृष्टि का प्रवाह है। यह जटिल और आश्चर्यजनक विश्व

---

1. द्र॰- **वि॰सा॰** खण्ड–3, पृ॰सं॰ 141-146

जब तक व्यक्ति के समक्ष है, वैषम्य की स्वाभाविक अनिवार्यता को स्वीकार करना ही होगा। कोई ज़ोर–ज़बरदस्ती आनुष्ठानिक पक्ष की अनेकता और दार्शनिक पक्ष की एकता को नष्ट नहीं कर सकती। अनेकता में एकता प्रकृति की रचना का वैशिष्ट्य है। जो धर्म इस तथ्य को नहीं पहचानते वह कट्टर और हठधर्मी बन जाते हैं। विवेकानन्द एक दृष्टान्त देकर इस हठधर्मिता को अव्यावहारिक बताते हैं। जैसे पूरे समाज के सामने केवल एक ही नाप की कमीज़ रख दी जाय, जो प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में ठीक आनी ही चाहिए और यदि वह किसी व्यक्ति के शरीर पर ठीक नहीं आती तो उसे शरीर ढकने का कोई अधिकार नहीं है। उनकी मान्यता है कि बेहतर यही है कि व्यक्ति को दार्शनिक पक्ष की शिक्षा देकर उसे स्वानुकूल आनुष्ठानिक पक्ष से ही आगे बढ़ने का अवसर दिया जाय।

धर्म का अर्थ है आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लेना और तद्रूप हो जाना।[1] आत्मज्ञान ही धर्म है और जिसे उसकी उपलब्धि हो चुकी है, वही धार्मिक है ।[2] यही धर्म का दार्शनिक पक्ष है। इसलिये विवेकानन्द कहते हैं कि वेदान्त ही सभी धर्मों की युक्तिसंगत व्याख्या है, उनका सारतत्व है। वेदान्त को छोड़ देने पर सभी धर्म कुसंस्कार मात्र हैं: और वेदान्त को ग्रहण करने पर प्रत्येक विचार धर्म बन जाता है।

जो धर्म मानव जीवन की समस्याएँ

---

1. द्र॰- **वि॰सा॰** खण्ड–3, पृ॰सं॰ 248
2. द्र॰- **वि॰सा॰** खण्ड–2, पृ॰सं॰ 247

सुलझाता है, वही सार्थक है। केवल शास्त्रों में निबद्ध धर्म अधिक मायने नहीं रखता। धर्म मानवता की सेवा में विश्वास रखने वाला होना चाहिए। वह अपने गुरु के कथन से पूर्णतः सहमत हैं कि मानवता की सेवा से न केवल दूसरों का भला होता है, बल्कि अपना भला भी होता है। मानव की सेवा दैवीय उपासना का ही एक रूप है यदि मानव की ईश्वर–भाव से सेवा की जाय। भगवान् की पूजा जब वृक्ष–पत्थर–प्रतिमा इत्यादि में हो सकती है तो मनुष्य में क्यों नहीं हो सकती? जबकि सभी जीवों की अपेक्षा मनुष्य में भगवान् का श्रेष्ठ प्रकाश है, क्योंकि इस मानव शरीर के भीतर ही उन्हें प्राप्त करने का, उनके साथ अभिन्नत्व अनुभव करने का सुयोग मिलता है। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य की श्रेष्ठता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

व्यावहारिक वेदान्त की विशेषताएँ

व्यावहारिक वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिये कहता है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही नास्तिकता कहते हैं । वेदान्त पाप स्वीकार नहीं करता, भ्रम स्वीकार करता है।[1] सबसे बड़ा भ्रम है—अपने को दुर्बल, पापी या हतभाग्य कहना—यह कहना कि मुझमें शक्ति नहीं है, मैं यह नहीं कर सकता, इत्यादि । कारण कि जब व्यक्ति ऐसा सोचता है तो वह मानों बन्धन श्रृंखला में एक कड़ी और जोड़ देता है। जो अपने को दुर्बल, अपवित्र समझता है वह भ्रान्त है । वह जगत् में एक असत् विचार प्रवाहित करता है। वेदान्त कहता है कि यदि दुर्बलता है, तो कोई चिन्ता नहीं है, हमें तो विकास करना है । सारे समय, —हम रोगी हैं— यह सोचते रहने से व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। उसके लिये दवा चाहिए। दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिन्तन करते रहना नहीं, वरन् बल का चिन्तन करना है । मनुष्य में जो शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे उसकी याद दिलानी होगी । विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य पूर्ण और शुद्धस्वरूप है, पाप और कुछ नहीं उसकी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है; अपनी आत्मा को उच्चतर भाव में प्रकाशित करना होगा।[2]

वेदान्त हमारे द्वारा स्वीकृत मिथ्या जगत् का, आदर्श के साथ समझौता कराने की कोई चेष्टा नहीं है । उसका तो परित्याग करने के लिये कहा गया है और ऐसा

---

1. द्र०- **वि.सा.** खण्ड–4, पृ.सं. 7
2. द्र०- **वि.सा.** खण्ड–4, पृ.सं. 11

होने पर ही उसके पीछे जो सत्य–जीवन सदा वर्तमान है, वह प्रकाशित होगा, व्यक्त होगा। ऐसा नहीं कि मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक पवित्र हो जाता है। बात केवल अधिकाधिक अभिव्यक्ति की है। आवरण हटता जाता है और आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता प्रकाशित होने लगती है। यह अनन्त पवित्रता और मुक्तस्वभाव मनुष्य में पहले से ही है ।

आत्मविश्वास का आदर्श

ही व्यक्ति की सबसे अधिक सहायता कर सकता है । विवेकानन्द का दृढ विश्वास है कि यह आदर्श जितना अधिक प्रचारित और कार्यरूप में परिणत होगा, उतना ही दुःख और अशुभ जगत् से कम होता जाएगा।[1] विवेकानन्द इस आदर्श के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं कि यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं हैं, क्योंकि वेदान्त एकत्व की शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है–सबके प्रति विश्वास,क्योंकि सभी एक है।[2] यही वेदान्त के व्यावहारिक स्तर पर अभ्यास करने वालों के लिये पहला पाठ है।[3] व्यावहारिक वेदान्त की दूसरी शिक्षा एकत्व की है। विवेकानन्द स्पष्ट कहते हैं कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विश्व का एकत्व है; विश्वबन्धुत्व नहीं।[4] जिससे एकत्व की प्राप्ति हो, वही सत्य है। इस एकत्व की प्राप्ति प्रेम से होती है। प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक

---

1. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–4, पृ.सं. 12
2. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–4, पृ.सं. 13
3. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–4, पृ.सं. 14
4. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–9, पृ.सं. 83

हो जाते है । माँ सन्तान के साथ, परिवार नगर के साथ, सम्पूर्ण जगत् पशुपक्षियों के साथ एकीभूत हो जाता है । प्रेम ही ईश्वर है और यह सभी कुछ उसी एक प्रेम का न्यूनाधिक प्रस्फुटन है । भेद केवल मात्रा के तारतम्य में है, किन्तु वास्तव में सभी कुछ उसी एक प्रेम की ही अभिव्यक्ति है । ऐसे में यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति अनेकत्व–बोधक कर्मों का त्याग करे और एकत्व–विधायक कर्मों को सत्कर्म मानकर सम्पादित करे। यही युक्ति विचारों के सम्बन्ध में भी है । देखना चाहिए कि उनसे विघटन या अनेकत्व उत्पन्न होता है अथवा एकत्व, और वे एक आत्मा को दूसरी आत्मा से मिलाकर एक महान् शक्ति उत्पन्न करते हैं या नहीं। यदि करते हैं तो ऐसे विचारों को अंगीकार करना चाहिए, अन्यथा उन्हें अपराध मानकर त्याग देना चाहिए।[1]

व्यावहारिक वेदान्त का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यावाहारिक ईश्वर का है । यह व्यावहारिक ईश्वर द्वैतवाद के एक नियन्त्रक सगुण ईश्वर से भिन्न है । यह जीवन्त ईश्वर है । यह ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के भीतर रहती है । मन्दिर–मस्जिद–चर्च आदि तो दूर की चीज़ें हैं; मनुष्य देह में स्थित मानव–आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है । पशु भी भगवान् के मन्दिर हैं, किन्तु मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है । यदि मनुष्य उसकी उपासना नहीं कर सकता, तो अन्य किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा । विवेकानन्द कहते हैं कि ईश्वर की पूजा जब वृक्ष में हो सकती है, पत्थर में हो सकती है, प्रतिमा में हो सकती है, तो मनुष्य में क्यों नहीं हो सकती ? सभी

---

1 द्र.- **वि.सा.** खण्ड–8, पृ.सं. 15

जीवों की अपेक्षा मनुष्य में ईश्वर की अभिव्यक्ति अधिक है । जिस क्षण मनुष्य प्रत्येक मानव देहरूपी मन्दिर में उपविष्ट ईश्वर की उपलब्धि कर लेगा, जिस क्षण वह प्रत्येक मानव के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकेगा और वास्तव में उनमें ईश्वर देख सकेगा, उसी क्षण वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाएगा।[1]यही सबसे अधिक व्यावहारिक उपासना है। *मानव की सेवा ही आज की परिस्थितियों में ईश्वर की यथार्थ पूजा है* । यही वह युगान्तरकारी धर्म है, जिसे विवेकानन्द ने विभिन्न दृष्टिकोणों तथा माध्यमों से उपदिष्ट किया है और जिसे उन्होंने अपने प्रत्येक कार्य में व्यावहारिक रूप से साकार किया है। उनका मानना है कि ईश्वर ही सभी मनुष्यों के हाथों से कार्य कर रहा है, पैरों से चल रहा है, हर व्यक्ति में उसका निवास है ।[2]

विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त का एक विशिष्ट पहलू यह है कि यह दूसरे प्रकार की साधनाओं को, उपासनाओं को भ्रामक नहीं मानता। भले ही वेदान्ती की दृष्टि में कर्म अनुपयोगी हों, यह कहना ठीक नहीं है कि जो अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड द्वारा भगवदुपासना करते हैं, वे लोग भ्रान्त हैं। वे लोग भी ठीक हैं, क्योंकि लोग सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर बढ़ते हैं।[3] सभी अपने–अपने मार्ग पर चलें, कोई हर्ज नहीं, क्योंकि मार्ग लक्ष्य नहीं हैं।[4] किसी को भी यह

---

1. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–8, पृ.सं. 29–30
2. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–2, पृ.सं. 300
3. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–8, पृ.सं. 35
4. द्र॰- **वि.सा.** खण्ड–2, पृ.सं. 300

अधिकार नहीं है कि वह अपने विश्वास का दूसरों पर बलपूर्वक आरोप करे ।

विवेकानन्द अन्य दार्शनिकों की भाँति इतर दर्शन–पद्धतियों का खण्डन नहीं करते । वह जानते हैं कि अधिकारीभेद के कारण साधनापद्धति में भिन्नता होनी स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है । हर व्यक्ति एक ही प्रकार का भाव नहीं ग्रहण कर सकता, इसीलिये विभिन्न धर्म, विभिन्न सम्प्रदाय तथा विभिन्न साधनापद्धतियाँ प्रचलित हैं।[1] यदि सब लोग एक ही प्रकार के विचारों का चिन्तन करें, तो इस चिन्तन करने का विषय ही नहीं रह जाएगा। दो या अधिक शक्तियों का संघर्ष होने से गति सम्भव होती है । उसी तरह चिन्तन के घात–प्रतिघात या वैचित्र्य से ही नये विचारों का उद्‌भव होता है । जब सब नष्ट हो जाएँगे, तब सम्प्रदाय नहीं रहेंगे; किन्तु जब तक मनुष्य चिन्तन करेंगे, तब तक सम्प्रदाय भी रहेंगे। सम्प्रदायों की संख्या जितनी अधिक होगी, लोगों को धर्मलाभ करने की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी ।

विवेकानन्द का वेदान्त एक ऐसा धर्म है, जो सब प्रकार के मानसिक अवस्थाओं वाले लोगों के लिये उपयोगी है । इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग समभाव से हैं ।[2] यह ज्ञानी की दृष्टि से दार्शनिक विचारों की दृढ़ भित्ति से युक्त है और सभी युक्ति–तर्कों से परिपुष्ट है । इस धर्म के अनुसार भक्त सर्वत्र– प्रत्येक प्राणी में, प्रत्येक पदार्थ में,– ईश्वर को ही पाता है। कर्मनिष्ठ के लिये

---

1. द्र०- **वि॰सा॰** खण्ड–2, पृ॰सं॰ 323
2. द्र०- **वि॰सा॰** खण्ड–3, पृ॰सं॰ 132

निष्काम भाव से जीवसेवा रूपी कर्म का पूरा अवसर है । और योगप्रिय व्यक्ति के लिये मनस्तत्त्व–विश्लेषण तथा नियन्त्रण से शक्ति–लाभ का उपाय है ।

व्यावहारिक वेदान्त की एक अन्य विशेषता है–पूर्ववर्ती मतों में सामंजस्य स्थापित करना । अन्य दार्शनिकमतों ने स्वेतर मतों के साथ सामंजस्य करने का प्रयत्न न करके उन्हें निरर्थक तथा अनिष्टकारी कहकर उनका परित्याग किया है। धर्म की यह प्रवृत्ति अत्यन्त अनिष्टकारी है । किसी व्यक्ति को एक नूतन और श्रेष्ठतर भाव मिला, तो वह अपने पुराने भावों के प्रति यह निर्णय कर लेता है कि वे सब अनावश्यक तथा हानिकारक हैं । वह यह कभी नहीं सोचता कि उसकी आज की दृष्टि से वे कितने ही निरर्थक क्यों न हो, एक समय ऐसा भी तो था, जब वे ही आवश्यक थे। प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रकार से आत्मविकास करना पड़ेगा,– पहले स्थूल भावों को अपनाना होगा और उनसे लाभान्वित होकर एक उच्चतर मानदण्ड तक पहुँचना होगा । इसीलिए व्यावहारिक वेदान्त प्राचीनतम मतों से मित्र–भाव रखता है।

विवेकानन्द का मानना है कि अद्वैत के पूर्वगामी द्वैत–विशिष्टाद्वैत आदि मत भी एक ही सत्य की सच्ची अभिव्यक्तियाँ हैं, और अद्वैतवाद जिन सिद्धान्तों पर पहुँचा है वे भी उन्हीं सिद्धान्तों पर पहुँचाते हैं। अतः व्यक्ति को, जिन पूर्ववर्ती सोपानों से होकर वह ऊपर पहुँचा है, उनकी उपयोगिता को शून्य मानकर, उनका खण्डन नहीं करना चाहिए । इसीलिये अद्वैतवादी होते हुए भी विवेकानन्द ने इन द्वैतादि सिद्धान्तों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उनका परित्याग नहीं करते और यही कारण है कि भक्तियोग, कर्मयोग और राजयोग इत्यादि साधनाओं को उन्होंने पूर्णतः

स्वीकार किया है।[1]

---

1. द्र॰- **वि॰सा॰** खण्ड–8, पृ॰सं॰ 53

धर्मप्रचार का रहस्य

विगत सौ वर्षों में स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का जो भी मूल्यांकन देश के विचारकों या विद्वानों द्वारा किया गया, उसमें उनका चित्रण एक ऐसे देशभक्त कर्मठ और सुधारवादी विचारक के रूप में किया जाता है, जिन्होंने न सिर्फ गुलामी व ग़रीबी के बोझ से दबे, किंकर्त्तव्यविमूढ भारतीयों को पुनर्जागरित किया, अपितु पाश्चात्त्य देशों में जाकर भारत के लिये धनार्जन करने और पाश्चात्त्य जगत् के समक्ष हिन्दू धर्म तथा रीति–रिवाजों को सही रूप में प्रस्तुत करने का कार्य किया। अमेरिका और यूरोप में विवेकानन्द ने भाषण तथा वार्त्ताओं से प्राप्त धन का उपयोग भारत में विभिन्न लोकोपयोगी कार्यों में किया। उन्होंने हिन्दू धर्म की अनेक कुरीतियों का विरोध किया, साथ ही इसकी अनेक परम्पराओं की वैज्ञानिकता, तार्किकता तथा आवश्यकता भी सिद्ध की। किन्तु महान् आध्यात्मिक गुरू श्रीरामकृष्ण के प्रिय शिष्य और सुयोग्य उत्तराधिकारी के कार्यों का इतना सीमित उद्देश्य क्या सम्भव है ? क्या उनके देश–विदेश के भ्रमण और भाषण–सम्भाषण का कुछ उच्चतर उद्देश्य नहीं था ?

सही बात तो यह है कि जब हम किसी महान् सन्त या अवतार पुरुष का जीवन चरित पढ़ते हैं, तो स्पष्टतः उनके कार्यकलाप को दो भिन्न–भिन्न स्तरों से समझने की आवश्यकता होती है। प्रथमतः तो वह जो उनके जीवन के दृष्ट अथवा लौकिक उद्देश्य से सम्बन्धित होता है, और जिसे सभी न्यूनाधिक रूप से समझते हैं। किन्तु यह उनके चिन्तन का एक छोटा हिस्सा होता है। उनके चिन्तन का बड़ा हिस्सा तो उस गूढ कार्य और प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है, जिसे साधारण मस्तिष्क न देख पाता है और न

ही समझ पाता है। उनका मन सांसारिक चिन्तन के स्तर से बहुत ऊपर जाकर उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जहाँ वह ईश्वरमय हो जाता है और सीधे ईश्वरीय आदेश प्राप्त कर तद्नुसार कार्य करता है। उनके चिन्तन का यह पहलू यदा–कदा संकेत के रूप में उपस्थित होता है। स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का विश्लेषण भी इसी को दृष्टिगत रखते हुए करना उचित होगा।

लौकिक दृष्टि से देखने पर हमें भी विवेकानन्द एक करुणहृदय राष्ट्रभक्त के रूप में दिखायी पड़ते हैं। अपने भारत भ्रमण के दौरान उन्होंने सर्वत्र ही गरीबी, भुखमरी अशिक्षा और दरिद्रता देखी। कभी विश्व को आध्यात्मिकता का मार्ग दिखाने वाले भारतवर्ष की अपनी सन्तानें गुलामी तथा अत्याचार के आधिक्य से अपने गौरवशाली व्यतिव को भूलकर दीन–हीन अवस्था में पहुँच गयीं। अज्ञान के अन्धकार ने उन्हें गहरी निद्रा में डाल दिया। घोर हताशा ने मानो उनका सारा पौरुष निचोड़ लिया हो। वह डरपोक, सन्देही और किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये थे। इस अवान्छित और अनावश्यक दुःख से पीड़ित लोगों को देखकर गौतम बुद्ध के परमानुरागी विवेकानन्द द्रवित हो गये और वहीं उन्होंने इनके दुःख को दूर करने का संकल्प लिया। इन गरीब लोगों के उत्थान के लिये धन संग्रह करने के उद्देश्य से वह अमेरिका गये।[1] जब उन्होंने पर्याप्त धन संग्रह कर

---

1. *'I travelled all over India and it was very painful for me to see the terrible poverty and lot of the masses. I cannot hold my tears. I am now firmly convinced thatb it is no use going on preaching a doctrine to the unfortunate people without mitigating their suffering and poverty. It is precisely for this, for the poor suffering people of India that I am going to America.'* – Vivekanand जैसा कि **SViW** में उद्धृत है।

लिया तो वह भारत वापस आए और गरीबों के उत्थान कार्य में लग गये। अब इन्हीं कार्यों का विश्लेषण उच्चतर दृष्टिकोण से करने का प्रयास करते हैं। स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि विश्व समुदाय में प्रत्येक राष्ट्र के लिए एक मूलतत्त्व निर्धारित है।[1] उस मूलतत्त्व का शिक्षण वही राष्ट्र कर सकता है। भारतवर्ष का मूलतत्त्व आध्यात्मिकता है। भारत ही सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिकता का सन्देश फैला सकता है। अपने भारत–भ्रमण के दौरान उन्होंने देखा कि यहाँ आध्यात्मिकता विलुप्त सी होती जा रही है। लोग अपने दिव्य स्वरूप को भूल चुके हैं। भारतीयों के पुनरुत्थान का विवेकानन्द ने संकल्प लिया।[2] यह पुनरुत्थान भारतीयों को आर्थिक रूप से समृद्ध बनाने या उन्हें तमाम भौतिक सुखसुविधाएँ और ऐशो–आराम उपलब्ध कराने से नहीं था, प्रत्युत यह आध्यात्मिक स्वरूप से सम्बन्धित था। भारत का आध्यात्मिक पुनर्जागरण हो जाएगा, तो यह स्वभावतः ही सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिकता से आप्यायित कर लेगा।[3]

---

1. द्र.- **वि.सा.** खण्ड–5, पृ.सं. 260
2. '*क्या भारत मर जाएगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जाएगा, सारे सदाचरणपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जाएगा, धर्मों के प्रति सारी सहानुभूति नष्ट हो जाएगी, सारे ध्येयवाद का लोप हो जाएगा।......भारतवर्ष का पुनरुत्थान होगा, पर वह शारीरिक शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा।* – **'विवेकानन्द-राष्ट्र को आह्वान'** से उद्धृत, पृ.सं. 53,56
3. '*मुझे यहाँ एक महान् उद्देश्य पूर्ण करना है जो मेरे गुरु ने मुझे सौंपा है –'अपनी मातृभूमि के पुनरुत्थान का लक्ष्य'। यहाँ आध्यात्मिकता समाप्त होती जा रही है और सर्वत्र भुखमरी छायी हुई है। भारत को जाग्रत् करना होगा, ताकि यह अपनी आध्यात्मिकता से सम्पूर्ण विश्व को आप्यायित कर ले।*' **Life,** Vol.1 पृ.सं. 604

यहाँ शंका उठनी स्वाभाविक है कि राष्ट्र के आध्यात्मिक उत्थान का विदेश में धनसंग्रह या भाषणादि से क्या मतलब ? इसके लिये तो लोगों को आध्यात्मिक प्रवचन दिये जाने चाहिए थे, उन्हें योग का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए था, ताकि मन का नियन्त्रण कर वह आध्यात्मिक हो सकें। फिर भी विवेकानन्द ने ऐसा कुछ नहीं किया। दरअसल विवेकानन्द मानव मन की कमजोरियों से भलीभाँति वाकिफ थे। वह समझते थे कि ऐसे अभावग्रस्त तथा भग्नमनोबल भारतीयों को सीधे आध्यात्मिक शिक्षा से कोई लाभ नहीं हो सकता। पहले इनकी मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी करनी होंगी, इनमें आत्मविश्वास जगाना होगा, इन्हें सही अर्थों में मनुष्य बनाना होगाः तब कहीं जाकर यह उन तेजोपूर्ण आध्यात्मिक विचारों को समझने धारण करने तथा उनका प्रसारण करने में समर्थ होंगे।[1] मनुष्य निर्माण के कार्य के लिये कुछ उत्साही, दृढ़निश्चयी, एकनिष्ठ कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता थी और सर्वोपरि धन की आवश्यकता थी। अमेरिका आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र था और अन्य शक्तिशाली पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक धर्मनिरपेक्ष भी था। इसलिये विवेकानन्द ने अमरीका का चयन किया।

स्पष्ट है कि विवेकानन्द का लक्ष्य सिर्फ भारतीयों की ग़रीबी दूर कर देना नहीं था, प्रत्युत उन्हें '**मनुष्य बनाने, उनके दिव्यस्वरूप का भान कराने और फिर अन्यों को**

---

1. '*What we want is not so much spirituality as a little of the bringing down of the Advaita into the material world. First bread and then religion. We stuff them too much with religion, when the poor fellows have been starving. No dogmas will satisfy the cravings of hunger. There are two curses here: first our weakness, secondly, our hatred, our dried - up hearts.*'- '**The Vedanta**', CW 3:432

मुक्ति दिलाने में सहायता प्रदान करवाना था।[1] आखिर उदारमना अद्वैतवादी एक संकुचित दृष्टिकोण का राष्ट्रभक्त कैसे हो सकता है ? वह सिर्फ भारत की ग़रीबी व गुलामी से परेशान नहीं थे, उनकी चिन्ता केवल मातृभूमि के कष्ट से नहीं थी।[2] उनकी चिन्ता विश्व भर में फैले उन बद्धजीवों के लिए थी, जिनका उद्धार इस आध्यात्मिक महाशक्ति के पुनरुत्थान के बिना सम्भव नहीं था। उनका दर्द भारतीयों की ग़रीबी दरिद्रता आदि की वर्तमान स्थिति का नहीं था, यह तो उन करोड़ों बद्धजीवों के कष्ट का था, जिनकी मुक्ति की कुंजी भारत के भविष्य में छिपी थी। वह विश्व के किसी भी कोने में रह रहे अधम से अधम व्यक्ति की मुक्ति के लिये नरक जाने को भी तैयार थे।[3] ऐसे सार्वभौमकल्याण के पुजारी को राष्ट्रवादिता के संकीर्ण दायरे में घसीट लाना वैचारिक अपरिपक्वता का परिचायक है।

यहाँ इस बात पर चर्चा करना अनुपयुक्त नहीं होगा कि विवेकानन्द के पश्चिम–भ्रमण का कारण क्या केवल धन एकत्र करना था ? यह सही है कि प्रायः विवेकानन्द ने अपने पत्रों तथा अनौपचारिक वार्त्ताओं में अमरीका आने का उद्देश्य भारतीय कार्यों के लिये धन–संग्रह ही बताया है। साथ ही भारत में बेलूर मठ के निर्माण से

---

1. सिस्टर निवेदिता को लिखे गये पत्र से उद्धृत
2. स्वामी तुरीयानन्द को वेदान्त आश्रम के संचालन हेतु भेजते समय विवेकानन्द ने उनसे कहा था *'Go there put your life into the worklive like a sanyasin and **forget India'*** - 'With the Swamis in America' पृ.सं. 62 से उद्धृत
3. *'of course I would commit a crime and go to hell for ever, if by that I could really help a human being,'* – **'Master As I Saw Him'** p 26 में उद्धृत

लेकर अनेक लोकहितकारी व जनसेवा के कार्य उसी धन से सम्पन्न भी हुए। फिर भी, अनेक प्रसंगों तथा प्रकरणों में ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जो अमरीका यात्रा के अन्य (या मुख्य) उद्देश्यों के भी होने का सहज प्रमाण देते हैं।

अपने भारत भ्रमण के दौरान विवेकानन्द ने छोटी–बड़ी कई रियासतों के राजा–महाराजाओं को प्रभावित किया। इनमें से कई तो जीवन पर्यन्त इनको गुरु मानते रहे। इन लोगों ने बारम्बार विवेकानन्द को आर्थिक सहायता देनी भी चाही, परन्तु एक दो को छोड़कर विवेकानन्द ने प्रायः सबका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया । यदि धर्नाजन–मात्र ही विवेकानन्द का इष्ट होता तो यह धन उन्हें हिन्दुस्तान में ही प्राप्त हो सकता था। इसके लिये अमरीका जाने की आवश्यकता नहीं थी। फिर अमरीका में उनके अनेक भाषण व कक्षाएँ निःशुल्क संचालित हुए। स्पष्ट है कि धनार्जन मात्र ही अमरीका यात्रा का कारण नहीं हो सकता था।

यह कहना भी बहुत ठीक नहीं है कि विवेकानन्द हिन्दू धर्म के प्रचार–प्रसार के लिये पश्चिम गये। यद्यपि प्रत्यक्षतः विवेकानन्द शिकागो में होने वाली विश्व धर्ममहासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिये गये थे, किन्तु यह जाने का एक कारण हो सकता है, मुख्य उद्देश्य हरगिज़ नहीं। उन्होंने वहाँ न तो हिन्दू देवी–देवताओं के मन्दिर स्थापित किये न ही पूजा–उपासना पर ज़ोर दिया। न तो ईसाई या अन्य प्रचलित धर्मों की निन्दा की, न ही उन्हें अपना धर्म त्याग कर हिन्दू बनने की सलाह दी। हाँ उन्होंने भारत के धार्मिक तथा सामाजिक रीति रिवाजों की खुल कर चर्चा की। ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत की जो गलत छवि पश्चिम में प्रचारित की

गयी थी, उसका भी खण्डन करते हुए उन्होंने सही स्थिति पश्चिमी श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत की। इस कार्य को हिन्दू धर्म के प्रचार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यह सत्य है कि उन्होंने पश्चिम में वेदान्त का शिक्षण अवश्य किया।[1] लेकिन जिस रूप और जिस सीमा में किया, उससे स्पष्ट है कि यह स्वयं में साध्य न होकर किसी उच्चतर उद्देश्य का साधन–मात्र था।

विवेकानन्द जानते थे कि भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान में समय लगेगा। पश्चिमी जगत् के बद्ध जीवों की निरन्तर करुण पुकार ने उन्हें इस बारे में कोई त्वरित निर्णय लेने के लिये प्रेरित किया। विवेकानन्द के समय तक किसी संन्यासी के लिये समुद्र यात्रा एक वर्जनीय कृत्य था, लेकिन विवेकानन्द ने भोगविलास में निमग्न, धन के उपासक तथा घोर भौतिकतावादी पाश्चात्त्यों के उद्धार के लिए अतार्किक मान्यताओं रूपी वर्जनाओं को तोड़ दिया। वह कहते थे कि यदि गौतम बुद्ध के पास पौरस्त्यों के लिए सन्देश था, तो उनके पास पाश्चात्त्यों के लिए सन्देश है।[2] पश्चिम को अपना सन्देश सुनाने– *उनके आध्यात्मिक विकास में उनकी सहायता करने* – के लिए धर्म सहिष्णु अमरीका से अधिक उपयुक्त और कोई देश नहीं हो सकता था।[3] विवेकानन्द का मानना था कि हिन्दू,

---

1. '*Q.- Do you intend to introduce the practices and rituals of the Hindu religion into this country (America)?*
   Vivekanand's answer- *I am preaching simply philosophy.*' **CW** 5:314
2. '*I have a message to the West as Buddha had a message to the East.*' - **CW** 5:314
3. '*The Americans are fast becoming liberal.....and this great nation is progressing fast towards that spirituality which is the standard boast of the Hindu.*' - **CW** 5:22

ईसाई आदि धर्म अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों के चलते आध्यात्मिकता से दूर हट गये हैं। अब आवश्यकता है एक ऐसे सार्वभौम धर्म की जो आध्यात्मिकता के निकट हो और इतना लचीला हो कि सभी उसे अपनी–अपनी प्रकृति के अनुकूल ढाल सकें।[1]

पाश्चात्य मुमुक्षुओं के लिये उपयुक्त इस सार्वभौम धर्म, जिसे वह वेदान्त धर्म कहना अधिक पसन्द करते थे, का शिक्षण उन्होंने भाषणादि के माध्यम से शुरू किया। इस प्रमुख उद्देश्य के साथ धनादि के अर्जन का गौण उद्देश्य भी पूरा होने लगा। यद्यपि धनार्जन का कार्य सन्तोषजनक नहीं रहा, लेकिन उनका शिक्षण–भाषणरूपी कार्य निरन्तर चलता रहा।[2] बाद में, वेदान्त के भाषणों के दौरान श्रोताओं का प्रवेश निःशुल्क भी होता रहा। अपने दूसरे अमेरिका प्रवास के समय उन्होंने खराब स्वास्थ्य के बावजूद भी न्यूयॉर्क में निःशुल्क कक्षाएँ तथा भाषण–सम्भाषण आयोजित किये। उन्होंने इसी समय लिखे गये एक पत्र में अपने इस बृहत्तर उद्देश्य का संकेत भी दिया था।[3] न्यूयॉर्क के लोगों से किसी प्रकार की कोई सहायता नहीं मिलनी थी,

---

1. *'Preach the philosophy, the spiritual part, and let people suit it to their own forms.'*- आलासिंगा को 6 मई,1895 को लिखे गये पत्त्र से उद्धृत
2. *'He felt that he had come to the west for two purpose-to deliver a message and to get help for India. But he was terribly disappointed in the amount of help he got.'* – **SViW** vol 6, p 100 में एलिस हांसब्रो का उद्धरण
3. *'My chief idea is all western worth has been to help India. On New York I have spent the greatest part of my energy and Indian work never had any help from New York-and I do not believe will even have...'*- 12 अप्रैल, 1900 को श्रीमती ओल बुल को लिखे गये पत्त्र से उद्धृत

फिर भी विवेकानन्द ने वहाँ आध्यात्मिक शिक्षण में अपनी तमाम ऊर्जा खर्च की। ज़ाहिर है, इसका उद्देश्य सिर्फ उनके आध्यात्मिक विकास में सहायता करना ही था। इस उद्देश्य का आभास हमें विवेकानन्द की प्रथम यात्रा में दिये गये भाषणों एवं चलायी गयी कक्षाओं के विषयवस्तु तथा उनकी क्रमिकता के विश्लेषण से भी होता है। विवेकानन्द ने मुक्तिप्रद वेदान्त के अपरिचित अतएव कठिन विचारों को पाश्चात्त्य श्रोताओं के समक्ष सुनियोजित तथा चरणबद्ध तरीके से प्रस्तुत किया। अमेरिकी जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक पथ पर लाने के लिये उनकी प्रबल भौतिकता, उत्कृष्टता का अहम्भाव तथा एकपक्षीय ज्ञान पर भारी चोट करने के आवश्यकता थी। विवेकानन्द ने अपने चमत्कारी भाषणों के माध्यम से सर्वप्रथम उनके सामने हिन्दूधर्म और संस्कृति की सही तस्वीर प्रस्तुत की। यह केवल कुछ तथ्यों की जानकारी भर नहीं थी। यह उनके घनीभूत अज्ञान और अहंकार को पिघलाने की शुरुआत भी थी, जिसमें विवेकानन्द काफी हद तक सफल रहे। सम्मोहित श्रोता इस उत्कृष्ट हिन्दू संन्यासी पर विश्वास करने और उसकी प्रशंसा करने के लिए बाध्य हो गये थे। कुरीतियों और अन्धविश्वासों का विरोध करने के उपरान्त उन्होंने सार्वभौम धर्म का विषय लिया। ऐसे समय में जब प्रायः सभी शिक्षित लोग सभी तरह के धर्म को अविश्वास और अरुचि की दृष्टि से देखते थे: यह आवश्यक था कि विवेकानन्द अपने श्रोताओं को प्रारम्भ में ही इस बात पर सहमत करें कि धर्म के नियम यथार्थ पर आधारित हैं और मानव जीवन के लिये मूल्यवान् हैं। वास्तव में पश्चिम में यह पहला बड़ा प्रयास था कि वह धर्म को अच्छी तरह से प्रतिष्ठित करें। जब जिज्ञासु लोग धर्म ओर अध्यात्म को सही अर्थों में समझने लगे तो

1894 में विवेकानन्द ने पाश्चात्यों के लिये अपने सन्देश को सार्वजनिक रूप से 'अपना मिशन' स्वीकार किया।[1]

1895–96 में भाषण तथा नियमित कक्षाओं के माध्यम से वेदान्त और उसके व्यावहारिक साधना मार्गों का प्रशिक्षण चलता रहा। इन कक्षाओं में प्रशिक्षित शिष्यों को वेदान्त की दीक्षा देकर विवेकानन्द ने उन्हें अन्यों को तदनुकूल वेदान्तमार्ग की शिक्षा देने के लिये अधिकृत कर दिया।[2] इस प्रकार वेदान्त बिना किसी ज़ोर–ज़बरदस्ती के धीरे–धीरे अमरीकी जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक मार्ग पर चलाता रहा। इन आध्यात्मिक शिक्षाओं को जड़ फैलाने तथा विकसित होने के लिये इनके शिक्षण में निरन्तरता होनी आवश्यक थी। फिर, कुछ ऐसा उपाय करना, जिससे कि वेदान्त के ये सिद्धान्त वर्तमान के शिष्यों के मन–मस्तिष्क में ही न रहकर भावी पीढ़ियों के सहस्रों नर–नारियों का आध्यात्मिक पोषण कर सके, विवेकानन्द के मिशन का आवश्यक हिस्सा था। अतः अपने सन्देश को भावी जिज्ञासुओं के लिये सुरक्षित रखने के लिये उन्होंने अमरीका में कुछ वेदान्त सोसाइटियों का गठन किया।[3]

---

1. *I have a message to the West as Buddha had a message to the East.'* - **CW** 5:314
2. *'I have got a few hundred followers. I shall make several snyasias and them I go to India leaving the work to them.'* - **SViW** vol 6 p 254
3. इनकी संख्या 3 है। कालक्रमानुसार ये इसप्रकार हैं–
   - वेदान्त सोसाइटी ऑफ न्यूयॉर्क (नवम्बर,1894)
   - वेदान्त सोसाइटी ऑफ साउथ कैलीफोर्निया
   - वेदान्त सोसाइटी ऑफ सान फ्रांसिस्को (नॉर्थ कैलीफोर्निया, 14 अप्रैल,1900)

स्वामी विवेकानन्द को अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में प्राप्त सफलता की ख्याति भारत के कोने–कोने में पहुँच गयी थी। सम्पूर्ण भारतवर्ष स्वामीजी के विलक्षण व्यक्तित्व को पहचान गया था। पाश्चात्त्य देशों में वेदान्त की स्वीकार्यता बढ़ते देखकर गुलाम भारत को अपनी अमूल्य आध्यात्मिक धरोहर पर पहली बार गर्व की अनुभूति हुई। गोंरे अमेरिकन तथा अंग्रेज लोगों को स्वामीजी के आगे–पीछे नतमस्तक देखकर आम भारतीयों का भी मन आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास से भर उठा। पहली बार उन्होंने अपने '*गौरवपूर्ण मनुष्य*' होने का एहसास किया। सारे देश की आँखें अपने इस अद्‌भुत संन्यासी पर टिक गयीं। स्वामीजी प्रत्येक भारतीय के लिए राष्ट्रीय गौरव और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के केन्द्र हो गये थे।[1] ऐसे समय पर भारत में अपने कार्य के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल पाकर स्वामी विवेकानन्द भारत लौट आये। यहाँ उन्होंने 'रामकृष्णमठ एवं मिशन' की स्थापना की। जहाँ संन्यासीगण लोककल्याण का कार्य करते हुए आत्मसाधना करते हैं।

इसप्रकार अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में वेदान्त का शिक्षण करने के उपरान्त स्वामीजी ने भारत में वेदान्त–शिक्षण का कार्य शुरू किया। अपने देहावसान के बाद भी कार्य को जारी रखने के लिए उन्होंने पूर्वोक्त मठ के अतिरिक्त अद्वैतसाधना के लिए हिमालय की पहाड़ियों के मध्य मायावती में 'अद्वैत आश्रम' की स्थापना की। आज भी ये मठ एवं आश्रम विभिन्न मतों एवं धर्मों के अनुयायिओं

---

1. *'Don't you see that the whole country is looking to me? If they do anything against me, it will rise up like a rocket.'*- विवेकानन्द, जैसा कि **SViW** vol- 5 के पृ॰सं॰ 25 में उद्धृत हैं।

को उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन प्रदान कर रहे हैं। और यही स्वामीजी को इष्ट भी था।

पंचम अध्याय

शङ्कराचार्य के प्रमुख सिद्धान्त तथा दोनों मतवादों की तुलनात्मक समीक्षा

ब्रह्म, ईश्वर और जीव

ब्रह्म, शांकरवेदान्त का परमतत्त्व है। इस 'एकमेवाद्वितीय' तत्त्व को मानने से ही शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्तसिद्धान्त 'अद्वैतवाद' कहा जाता है । शंकर, ब्रह्मसूत्र के भाष्य में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण व्याख्यायित करते हैं । जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होता है, वह ब्रह्म है।[1]

शंकराचार्य के ब्रह्म की सत्ता व्यावहारिक, दैशिक, कालिक तथा वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है।[2] यह समस्त जगत् का अधिष्ठान है । चेतन तथा अचेतन, सामान्य तथा विशेष– समस्त वस्तुओं का अन्तर्भाव ब्रह्म में ही होता है।[3] देश–काल से अतीत होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व किसी एक स्थान पर नहीं कहा जा सकता । यह सर्वत्र व्याप्त है । ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण किसी अन्य वस्तु के दृष्टान्त द्वारा असम्भव है । क्योंकि ब्रह्म के समान कुछ नहीं है । ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है । ब्रह्म शुद्धचैतन्य है और समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है; वह स्वतःसिद्ध तथा स्वप्रकाश है । उसका निराकरण असम्भव है, क्योंकि जो निराकर्त्ता है, वही उसका स्वरूप है।[4] शुद्ध आत्मचैतन्य, अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से

---

1. द्रष्टव्य– 'जन्माद्यस्य यतः' 1/1/2 सूत्र का शांकरभाष्य,
2. द्रष्टव्य– ब्रह्मसूत्र–4/3/14 का शांकरभाष्य,
3. '*अनेके हि विलक्षणाश्चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः, तेषां पारम्पर्यगत्या यथैकस्मिन्महासामान्येऽन्तर्भावः प्रज्ञानघने.....*' – 'बृहदारण्यकोपनिषद्' 2/4/9 पर शांकरभाष्य

परिच्छिन्न होकर जीव के रूप में प्रतीत होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आत्मा की अभिव्यक्ति की तीन व्यावहारिक अवस्थाएँ हैं।[1] इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण अर्थ का रूप ग्रहण कर लेता है जिसे वृत्ति कहते है । जब इस वृत्ति पर साक्षिचैतन्य का प्रकाश पड़ता है तब हमें वृत्तिरूपपदार्थ का ज्ञान होता है । जाग्रत्–अवस्था में हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान बहिरिन्द्रिय के माध्यम से अन्तःकरण और बहिरर्थ के सन्निकर्ष से होता है, एवं मानस पदार्थों का अनुभव अन्तःकरण और मनोभाव के सन्निकर्ष से होता है । स्वप्नावस्था में अन्तःकरण अकेला काम करता है और मानस पदार्थो की कल्पना करता है, जो सीधे साक्षिचैतन्य से प्रकाशित होते हैं । सुषुप्ति में बाह्य और मानस दोनों प्रकार के विषयों के अभाव में अन्तःकरण अपने कारणभूत अविद्या में लीन हो जाता है, अतः यह अज्ञान की अवस्था है, किन्तु है सुखदुःखादिद्वन्द्वरहित । अन्तःकरण के अभाव में भी सुषुप्ति में जीवत्व बना रहता है, क्योंकि अविद्या नष्ट नहीं होती। यद्यपि अविद्या से आवृत होने के कारण साक्षिचैतन्य प्रकाशित नहीं होता तथापि उसकी स्थिति के कारण सुषुप्ति के पूर्व और पश्चात् के अनुभव की एकता बनी रहती है । आत्मा तुरीय या शुद्ध चैतन्य है । तुरीयावस्था में अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध अखण्डानन्दस्वरूप आत्मचैतन्य प्रकाशित होता है ।

शंकराचार्य व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म के दो भेद करते हैं। जहाँ शास्त्रों में अविद्याकृत नाम और रूप आदि विशेषों के प्रतिषेध से 'अस्थूलादि' शब्दों द्वारा ब्रह्म का

---

1. द्र०– **'माण्डूक्योपनिषद्'** के मन्त्र संख्या 4, 5 तथा 6 पर शांकरभाष्य

उपदेश किया जाता है, वह 'परब्रह्म' का उपदेश है । वही जब नामरूपादि किसी विशेष से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिये वर्णित होता है तब वह अपर ब्रह्म कहलाता है।[1] यह अपरब्रह्म ही शांकरवेदान्त का 'ईश्वर' है । ईश्वर का स्वरूप पारमार्थिक न होकर अविद्याकालिक ही है। निरूपाधिक परब्रह्म माया की उपाधि के कारण 'ईश्वर' रूप में भासता है । परब्रह्म बुद्धि द्वारा अग्राह्य है, अतः परब्रह्म के लिये जो भी शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, वे वस्तुतः ईश्वर का ही बोध कराते हैं। सापेक्ष–बुद्धि के लिये ईश्वर ही सर्वोच्च है। ईश्वर का व्यक्तित्व पूर्ण है। वह सर्वगुणसम्पन्न है। उनका स्वरूप सच्चिदानन्द है। सत्, चित् और आनन्द तीन गुण नहीं हैं, अपितु एक ही हैं और ईश्वरस्वरूप हैं। ईश्वर प्रभु है, आराध्य देव है, भगवान है। वह भक्ति से प्रसन्न होकर भक्तों पर अनुग्रह करता है ।

ईश्वरोपासना के द्वारा जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता है और तब वह जीव परब्रह्म का साक्षात्कार करता है। अविद्या के आधार पर ब्रह्म के जो स्रष्टा, नियन्ता आदि विशेषण देखे जाते हैं, वे कल्पित ही हैं, क्योकि जब साधक को आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तो उसे जगत् के स्रष्टा एवं नियन्ता का बोध पृथक् रूप से नहीं होता। द्वैत–बुद्वि की निवृत्ति होने पर स्रष्टा–नियन्ता ईश्वर के स्वरूप–विवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

1. *'किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति उच्यते यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधाद् अस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते, तत् परम। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टम् उपासनायोपदिश्यते,* ***'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः'*** –छा॰उ॰ 3/14/2–इत्यादिशब्दैः *तदपरम्।'* ब्रह्मसूत्र–4/3/14 पर शांकरभाष्य,

ब्रह्म अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है । जीव पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही है[1] ईश्वर माया–शक्ति सम्पन्न है, और जीव अविद्योपाधि से उपहित।[2] जहाँ ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व हैं, वहाँ जीव अल्पज्ञ, तुच्छ तथा अत्यन्त लघु है । जीव में अज्ञानजन्य कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। वह अज्ञानवश कर्म करता है, स्वयं को कर्त्ता मानता है तथा सुखदुःखरूपी कर्मफल का भोक्ता मानता है । जीव को ईश्वर का अंश कहा गया है।[3]यह अंशत्व वास्तविक न होकर अविद्याजन्य प्रतीति है, क्योंकि ईश्वर वस्तुतः निरवयव ब्रह्म है।[4] जब तक अविद्या है, तभी तक जीव का जीवत्व है । अविद्या–निवृत्ति होते ही जीव अपने शुद्धात्मस्वरूप में प्रकाशित होता है। वेदान्त में एक ही कूटस्थ नित्य परमात्मतत्त्व है और वह अविद्या से अनेक रूपों में प्रतीत होता है।[5]

जीव और ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख–सुखादि का अनुभवकर्त्ता है, परन्तु ईश्वर दुःख–सुखादि का अनुभवकर्त्ता नहीं है । अद्वैतवेदान्तियों ने ईश्वर और जीव के विषय में प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद की अवधारणा की है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार

---

1. '*जीवो ब्रह्मैव नापरः जीवानां स्वरूप वास्तवं ब्रह्म*' ब्रह्मसूत्र–1/4/3 के शांकरभाष्य पर भामती
2. '*तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः*' – ब्रह्मसूत्र–2/3/46 पर शांकरभाष्य
3. '*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः*' गीता 15/7
4. द्र०– ब्रह्मसूत्र–2/3/43 पर शांकरभाष्य
5. '*यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्यदृकस्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपाद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्।*' ब्रह्मसूत्र–1/3/19 पर शांकरभाष्य

ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव है । किन्तु ब्रह्म और माया दोनो ही निराकार हैं, अतः निराकार का निराकार में प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है ? अवच्छेदवाद के अनुसार मायावच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीव है। किन्तु माया या अविद्या नित्य अनन्त ब्रह्म को अवच्छिन्न या सीमित कैसे कर सकती है ? आभासवाद के अनुसार ब्रह्म का माया में आभास ईश्वर और अविद्या या अन्तःकरण में आभास जीव है । माया या अविद्या के सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या होने के कारण आभास भी सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या है । शंकराचार्य का झुकाव यद्यपि आभासवाद के प्रति अधिक प्रतीत होता है, तथापि उन्होंने प्रतिबिम्ब और अवच्छेद के दृष्टान्त भी दिये हैं । उन्होंने प्रतिबिम्ब और अवच्छेद को वाद के रूप मे ग्रहण नहीं किया है, केवल दृष्टान्त के रूप में अपनाया है । आभास ब्रह्म के विवर्त हैं, परिणाम नहीं । ईश्वर को माया आवृत नहीं कर सकती । अतः ईश्वर स्वयं को ईश्वर के रूप में नहीं, अपितु परब्रह्म के रूप में ही अनुभव करता है। जीव उन्हें ईश्वर मानता है । शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों के आधार पर होती है, अनुमान या तर्क द्वारा नहीं।[1]

---

1. द्र०– ब्रह्मसूत्र–1/1/2 पर शांकरभाष्य

माया और अविद्या

शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त का सबसे महत्त्वपूर्ण मत मायावाद है । 'माया' शब्द का प्रयोग शंकर ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है । माया अनादि किन्तु सान्त है । माया सत् नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से इसका बाध होता है । यह असत् भी नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है । इसीलिए यह सदसदनिर्वचनीय है । माया का अभावपक्ष 'आवरण' कहलाता है जो तत्त्व को ढँक देता है, जिससे तत्त्व का भान नहीं होता । इसका भावपक्ष 'विक्षेप' कहा जाता है, जो तत्त्व पर किसी अन्य वस्तु का आरोप कर देता है, जिससे तत्त्व की अन्यथाप्रतीति होने लगती है। इस माया को अति गम्भीर, दुखग्राह्य एवं विचित्र सिद्ध करते हुए वह कहते हैं कि जीव –यह बतलाने पर भी कि प्रत्येक जीव ईश्वर रूप है,– 'मैं ईश्वर रूप हूँ', ऐसा नहीं समझता। इसके विपरीत देहेन्द्रियादिरूप अनात्मतत्त्व को ही ग्रहण करता है।[1]

शङ्कराचार्य अविद्या एवं माया को पर्यायवाची शब्द मानते हैं। उनके अनुसार जगत् और ब्रह्म–सम्बन्धी द्वैतबुद्धि का हेतु अविद्या है। लोगों की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म–मरण आदि दुःखों का कारण अविद्या ही है।[2]

---

1. *'अहो अति गम्भीरा दुरवागाह्या विचित्रा चेयं माया यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थ सतत्वोप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति । अनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानम् अपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्यपुत्र इत्यनुच्यमानोऽपिगृह्णाति '* - ब्रह्मसूत्र–1/1/2 पर शांकरभाष्य
2. द्र०– कठोपनिषद् 2/5 पर शांकरभाष्य

अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ–सत्य आत्मस्वरूप का बोध न होने पर नामरूपात्मक जगत् ही परमार्थरूप से सत्य प्रतीत होता है । अविद्यानिवृत्ति ही मुक्ति का मार्ग है। आचार्य शङ्कर अविद्या को जगत् की उत्पन्नकर्त्री बीजशक्ति कहते हैं, जिसका विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है।[1] उन्होंने अविद्या को प्रपंचजन्य समस्त अनर्थ का बीज कहा है ।[2]

यद्यपि शंकर ने माया तथा अविद्या में भेद नहीं किया, लेकिन उनके अनुयायी अधिकांश अद्वैतवादियों ने अविद्या तथा माया में भेदनिरूपण किया है। प्रकाशात्मयति के अनुसार अविद्या आवरणशक्तिसम्पन्न है, तथा माया विक्षेपशक्तिसम्पन्न है।[3] विद्यारण्य के मत में विशुद्धसत्त्वप्रधान प्रकृति को माया तथा मलिनसत्त्वप्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं।[4] यही भेद सुदर्शनाचार्य को भी मान्य है । वह सत्त्वगुणप्रधान माया को ईश्वर की दासी तथा तमोगुणप्रधान अविद्या को जीव की स्वामिनी कहते हैं।[5]

---

1. '*मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या......*' - ब्रह्मसूत्र–1/4/3 पर शांकरभाष्य
2. '*मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः, स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्*' , 'बृहदारण्यकोपनिषद्' – 3/5/1 पर शांकरभाष्य
3. '*एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया, आच्छादनप्राधान्येनाविद्येतिव्यहारभेदः*' 'पन्चपादिकाविवरण' पृ. 32
4. '*सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते,*' 'पन्चदशी' 1/16
5. द्र०– अद्वैतचन्द्रिका 41

जगत्

अद्वैतवेदान्त के आचार्यों द्वारा ब्रह्म को जगत् का मूल कारण एवं जगत् को कार्य कहकर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कही गयी है ।[1] शंकराचार्य ने भी आकाशादिप्रपंचमय जगत् को कार्य तथा ब्रह्म को कारणरूप में स्वीकार किया है, साथ ही दोनों के बीच अनन्यत्व की स्थापना की है ।[2] परन्तु अनित्य एवं मिथ्या जगत् की कार्यता के सम्बन्ध में कूटस्थ एवं नित्य ब्रह्म की कारणता संगत नहीं कही जा सकती। इसीलिये शंकराचार्य अपने अद्वैतवाद में मायाशक्तिविशिष्ट परमात्मा से प्रपंचमय जगत् की सृष्टि सिद्ध करते है । वह मायावी ईश्वर[3] को जगत् का स्रष्टा स्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक ही ईश्वर जो कूटस्थ नित्य एवं विज्ञानस्वरूप है, माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है[4] उपनिषदादि के *सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय* इत्यादि वाक्यों का ब्रह्म की जगदुत्पत्ति की अपेक्षा से ही तात्पर्य समझना चाहिए। अपनी माया शक्ति के द्वारा ईश्वर उसी प्रकार जगत्

---

1. *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते......तदेव ब्रह्म'* –तै0उ0 3/1/1) और *'जन्माद्यस्य यतः'* ब्र0सू0 1/1/2
2. *कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपन्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते '*–ब्रह्मसूत्र–2/1/14 पर शांकरभाष्य
3. *'अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति*/– ब्रह्मसूत्र–2/1/9 पर शांकरभाष्य
4. *'एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नसन्यो विज्ञानधातुरस्तीति*/– ब्रह्मसूत्र–1/3/19 पर शांकरभाष्य

की रचना करता है, जिस प्रकार जादूगर अपने इन्द्रजाल के द्वारा बहुविध अवास्तविक विषयों की रचना करता है । और जैसे जादूगर अपने इन्द्रजाल से प्रभावित नहीं होता, वैसे ही मायावी ईश्वर भी जगत् के समस्त पापपुण्यादि कृत्यों से अस्पृष्ट रहता है।[1]

शंकराचार्य इस कार्यकारणसम्बन्ध को विवर्त[2] के रूप में मानते हैं। किसी वस्तु का अन्य रूप से प्रसिद्ध होना विकार है और मिथ्यारूप से अन्यवस्तु के रूप में भासित होना विवर्त है। जब कोई वस्तु अपनी पूर्वावस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाती है तो उसे वस्तु का विकार या परिणाम कहते हैं, जैसे दूध का दही बन जाना। इसके विपरीत जब वस्तु पूर्वावस्था का त्याग किये बिना ही दूसरी अवस्था में भासित होती है तो उसे वस्तु का विवर्त कहते हैं ,जैसे रज्जु का रज्जुरूप में रहने पर भी सर्प का आभास होना। सांख्य जगदुत्पत्ति में परिणामवाद को मानता है। शङ्कर कहते है कि जिस प्रकार अविद्यावशात् रस्सी में सर्प का मिथ्या अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण परमात्मा में जगत् के नानात्व का अनुभव होता है।[3] जैसे भ्रान्तिकालिक सर्प रस्सी का विकार नहीं है, वैसे ही जगत् को भी ब्रह्म का विकार नहीं समझना चाहिए ।

विवर्तवाद के स्वरूप को लेकर शंकर के अनुयायी दार्शनिकों में

---

1. द्र०– गीता 5/14,15 पर शांकरभाष्य
2. *'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः । अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।'*
3. द्र०– ब्रह्मसूत्र–2/1/19 पर शांकरभाष्य

भी तीन प्रकार के मत प्रचलित हुए– आभासवाद,प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद। इनमें आभासवाद का सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद से अनेक रूपों में भिन्न है। जहाँ तक प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न है, बिम्ब (मूलतत्त्व) एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद में मूलतत्त्व (ब्रह्म) तथा आभासमात्र द्वैतरूप जगत् में अभिन्नत्व नहीं है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण भी सत्य है, परन्तु आभासवाद में अविद्या के कारण मूलसत्य ब्रह्म में जिस व्यावहारिक जगत् की प्रतीति होती है, वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता है । बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के भेद दर्शन के कारण ही द्रष्टा को प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है, अभेद दर्शन के द्वारा नहीं । इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है वह किसी भी काल में पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं होती ।

अवच्छेदवादी की दृष्टि से सर्वव्यापी तथा असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं ससीम रूप को प्राप्त होता है । इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुसार अवच्छेद (*ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन*) तो मानसिक धारणा मात्र होने के कारण मिथ्या है, परन्तु जो ब्रह्म अवच्छिन्न दिखायी पड़ता है, वह तो सर्वथा सत्य ही है ।

मोक्ष और उसके साधन

मोक्ष, आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की पूर्ण अनुभूति है। अविद्या के कारण जीव देहेन्द्रियान्तःकरणादि से तादात्म्य कर लेता है और अहंकार–ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता मानकर जन्ममरण चक्र में संसरण करता है । यही उसका बन्धन है। जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्त हो जाती है, तो जीव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त–ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। यही उसकी बन्धन से मुक्ति है । मोक्ष न तो उत्पाद्य है, न विकार्य है, न प्राप्य है और न ही संस्कार्य है। मोक्ष या ब्रह्म में हेयोपादेयता नहीं है । मोक्ष मे न कुछ खोना है, न पाना है। मोक्ष आत्मभाव है, जो सदा प्राप्त है । मोक्ष या ब्रह्मानुभव देश और काल में कोई घटना नहीं है, और न ही उसका कारणता से किसी प्रकार का सम्बन्ध है।[1]

परमार्थतः मोक्ष ब्रह्मभाव ही है, इस दृष्टि से मोक्ष का निरूपण करते हुए शंकराचार्य कहते हैं, यह पारमार्थिक सत् है, कूटस्थनित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य तृप्त है, निरवयव है, स्वयंज्योतिःस्वभाव है, सुख दुःख से अस्पृष्ट है, तीनों काल से अतीत है। यह अशरीरत्व ही मोक्ष कहलाता है ।[2]

---

1. 'न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम् व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य।' -'बृहदारण्यकोपनिषद्' 4/5/15 पर शांकरभाष्य

2. द्र॰– ब्रह्मसूत्र–2/1/19 पर शांकरभाष्य

शंकराचार्य मोक्ष के लिये शरीरत्याग को आवश्यक नहीं मानते । उनका कहना है कि मुक्ति इसी जीवन में प्राप्त की जा सकती है और उसके बाद शरीर भी बना रह सकता है जैसे कुम्हार का चाक एक बार चला देने पर, हाथ हटा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर तक घूमता रहता है; वैसे ही जीवन्मुक्त का शरीर भी प्रारब्ध–कर्म के क़ारण कुछ समय तक बना रहता है। किन्तु इस अवधि में नवीन कर्मसंचय नहीं होता । प्रारब्धकर्म नष्ट होने पर देह छूटकर विदेहमुक्ति होती है ।

शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है, जो अविद्या का निवारण करता है। कर्म और उपासना चित्त को शुद्ध और एकाग्र बनाने के साधन हो सकते है, जिससे चित्त 'ज्ञान' को ग्रहण कर सके । कर्म और उपासना अविद्या में ही सम्भव हैं। कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इसीलिये अविद्या और कर्म में लिप्त व्यक्ति जन्म–मरण के चक्र में घूमता रहता है। कर्म में कर्त्ता व कर्म का और उपासना में उपासक–उपास्य का द्वैत बना रहता है। जबकि ज्ञान, ब्रह्म को इदंतया विषय नहीं बनाता। शङ्कर ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्याकल्पित ज्ञातृ–ज्ञेय भेद की निवृत्ति से अपरोक्षानुभूतिगम्य प्रतिपादित करते हैं ।

---

1. '*तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य,सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्*

ब्रह्मसूत्र–2/1/19 पर शांकरभाष्य

शंकराचार्य और विवेकानन्द के अद्वैतसिद्धान्त की तुलना

शंकराचार्य की तरह ही स्वामी विवेकानन्द भी **ब्रह्म** को एकमात्र परमार्थ सत्ता मानते हैं। ब्रह्म का ज्ञान शब्दप्रमाण से ही होता है। अनुमान–प्रत्यक्ष आदि से नहीं। ब्रह्म अवाड्मनसगोचर है। यह तर्क का विषय नहीं है। सगुण और निर्गुण ब्रह्म के विचार से विवेकानन्द सहमत हैं। सगुण ब्रह्म **ईश्वर** है, जो सर्वव्यापी है, संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है। सगुण ब्रह्म के सभी विशेषण निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अतार्किक मानकर त्याग दिये गये हैं। वह चिन्तनशील नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चिन्तन ससीम जीवों के ज्ञानलाभ का उपाय–मात्र है। वह सृष्टिकर्त्ता भी नहीं कहा जा सकता। उसे कोई स्पृहा नहीं है। वेदों में उसके लिये 'सः' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, 'स' शब्द द्वारा निर्देश न करके निर्गुण भाव समझाने के लिये 'तत्' शब्द द्वारा उसका निर्देश किया गया है। 'सः' शब्द के कहे जाने से वह व्यक्तिविशेष हो जाता है, इससे जीव–जगत् के साथ उसका सम्पूर्ण पार्थक्य सूचित हो जाता है।[1]

विवेकानन्द **जीवो ब्रह्मैव नापरः** से भी पूर्णतः सहमत हैं। जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है, किन्तु अज्ञानवश वह अपने को पृथक् समझता है। जीव जब अपने ब्रह्मस्वरूप को जान लेता है तो उसका संसार–चक्र समाप्त हो जाता है। यही मुक्ति की अवस्था है। शंकर के **मायावाद** का द्वैतवादियों,

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰**, भाग 5 पृ॰सं॰ 28

विशिष्टाद्वैतवादियों के साथ–साथ कुछ अद्वैतवादियों ने भी खण्डन किया है। विज्ञानभिक्षु यद्यपि अद्वैतवादी थे, फिर भी उन्होंने शंकर के मायावाद को उड़ा देने की कोशिश की थी। ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे, जिनका मायावाद पर विश्वास न था, यहाँ तक कि उन्होंने शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहने में संकोच नहीं किया। विवेकानन्द स्वीकार करते हैं कि मायावाद समझना अत्यन्त कठिन है।[1] वह मायावाद का सिद्धान्तरूप में समर्थन करने के साथ–साथ एक निराले ढँग से इसके व्यावहारिक रूप की प्रशंसा भी करते हैं। अपने प्रसिद्ध भाषण 'सर्वांग वेदान्त'[2] में वह कहते हैं कि सत्ता केवल ब्रह्म ही की है, नानात्व तो माया के कारण भासित हो रहा है। यह एकत्व– 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म'– ही हमारा चरम लक्ष्य है, और यहीं पर भारतीय और पाश्चात्य विचारों का चिरद्वन्द्व भी स्पष्ट है । हज़ारों वर्षों से भारत ने मायावाद की घोषणा करते हुए संसार को चुनौती दी है और संसार की विभिन्न जातियों ने यह चुनौती स्वीकार भी की है। जिसका फल यह हुआ कि वह पराभूत हो गयी है और भारतीय जीवित हैं। भारत की घोषणा यह है कि संसार भ्रम है, माया है अर्थात् चाहे मिट्टी से एक–एक दाना बिनकर खाएँ या सोने की थाली में भोजन मिले, चाहे निर्धन भिक्षुक हो या चक्रवर्ती राजा, –सब का परिणाम एक है मृत्यु और सबकी गति एक है। सभी माया है । भिन्न–भिन्न जातियाँ इसका खण्डन करने की चेष्टा करती हैं, भोगसाधन को ध्येय बनाकर, भोग की चरम सीमा को पहुँचकर, विलुप्त हो जाती हैं। हम चिरकाल से

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰**, भाग 5 पृ॰सं॰ 232
2. स्टार थियेटर, कलकत्ता में दिया गया व्याख्यान। द्र॰– **वि॰सा॰**, भाग 5 पृ॰सं॰ 233

खड़े हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि सब कुछ माया है।

विवेकानन्द कहते हैं कि **जगत्** को एक तस्वीर के समान देखो; और यह जानकर कि जगत् में तुम्हें कोई भी वस्तु विचलित नहीं कर सकती, जगत् के सौन्दर्य का उपभोग करो। जगत् के सुख–दुःख के ऊपर शान्त भाव से दृष्टिपात करो; शुभ और अशुभ दोनों को एक दृष्टि से देखो–दोनों ही भगवान् के खेल हैं, इसलिये सभी में आनन्द का अनुभव करो।[1]

---

1. द्र०– **वि०सा०**, भाग 7 पृ०सं० 21

सङ्गठन और प्रचार कार्य की तुलना

शंकराचार्य ने संन्यासियों की जिस परम्परा को शुरू किया था, उसमें संन्यासियों को समाज से पूरी तरह अलग रहना था। उन्हें संन्यास आश्रम के कड़े नियमों से बँध कर रहना था। वह सिर्फ अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील थे। समाज से उनका इतना ही जुड़ाव था कि शंकर द्वारा पुनर्प्रतिष्ठित वैदिक–धर्म का पालन आम जनता करती रहे। इसके लिये विभिन्न मठों के संन्यासी अपने क्षेत्र के मीमांसकों, नैयायिकों, वैष्णवों आदि मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करते और अद्वैतवेदान्त की पताका को किसी प्रकार झुकने न देते। शंकराचार्य का मुख्य उद्देश्य वेदविरोधी बौद्धधर्म तथा उसके प्रभाव में बने अनेकानेक पन्थों और अन्य प्रमुख मतवादों का खण्डन कर अद्वैतवेदान्त को सच्चा वैदिक धर्म बताते हुए उसे पुनर्प्रतिष्ठित करना था। शंकराचार्य ने अपने अप्रतिम बुद्धिचातुर्य, वाक्पटुता और विलक्षण व्यक्तित्व से अपने जीवनकाल में ही उपर्युक्त सफलता अर्जित कर भविष्य में इसे सुरक्षित रखने हेतु चार मठों के माध्यम से संन्यासियों की एक नयी परम्परा शुरू की। हाँ, तात्कालिक सफलता के अतिरिक्त इसकी एक अन्य सफलता भी ऐतिहासिक है कि इस परम्परा ने अद्वैतवेदान्त की नियमित परम्परा जीवित रखी। इनके संन्यासियों द्वारा लगातार उत्तम वेदान्तग्रन्थ तथा भाष्यादि की रचना की गयी, जो प्रबुद्धवर्ग को अद्वैत–साधना की ओर सदैव आकर्षित करते रहे। यही कारण रहा है कि आज शङ्कर के आविर्भाव के लगभग 1500 वर्ष बाद भी अद्वैत–सम्प्रदाय के यह मठ अपने गौरव के अनुकूल प्रासङ्गिक और महत्त्वपूर्ण बने हैं। शंकराचार्य के इस प्रयास से अद्वैतवेदान्त भले ही शास्त्रीय दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मतवाद बन गया और विद्वद्गण को प्रभावित करता रहा, किन्तु जनसाधारण को

इससे कोई सीधा लाभ नहीं हो सका। यह विशाल संन्यासी–परम्परा बद्ध संसारी जीवों के सम्मुख ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करने में असफल रही कि यह वेदान्त सम्प्रदाय के संन्यासी किसी प्रकार से समाज को ठोस आध्यात्मिक या भौतिक सहायता प्रदान कर सकते हैं।

19वीं शताब्दी में विवेकानन्द के आविर्भाव के समय भी शंकराचार्य के समय के समान ही हिन्दूधर्म, और भारत की आध्यात्मिक स्थिति बहुत ख़राब हो चुकी थी। 700 वर्षों की गुलामी ने भारतीयों को दरिद्र, विचारशून्य और अशिक्षित बना दिया। रोटी की चिन्ता ने आध्यात्मिक चिन्तन को कोसों दूर कर दिया। इस समस्या से जूझने के लिये शंकर की परम्परा के संन्यासी तैयार नहीं थे। उनके पास मुमुक्षुओं की आध्यात्मिक क्षुधा को दूर करने का उपाय तो था, किन्तु भौतिक क्षुधा दूर करने का कोई उपाय नहीं था। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि जनसेवा का व्रत उनके उद्‌देश्यों में कहीं शामिल भी नहीं था।

विवेकानन्द शंकराचार्य की परम्परा के संन्यासी संगठन की सीमितताओं से भली–भाँति वाकिफ थे। वह जानते थे कि भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के लिये ऐसे संन्यासी नहीं चाहिए जो केवल अपनी मुक्ति के लिये एकान्तसाधना के इच्छुक हों।[1]

---

1. *'One becomes a sannyasi not to become free from the obligations enjoined upon him by life, taking upon oneself more wider responsibilities of service to the whole society instead of concern simply for one's family,-here is true virtue. The most despising moment in the existing system of order of monks is the acceptance of sanyas as a means of getting away from all useful work..'*- विवेकानन्द, जैसा कि ए.ए.टृकाचेव के लेख में उद्धृत है। द्र.– **Swami Vivekanand's Studies in Soviet Union,** पृ.सं.20

उन्होंने अपने मठ में संन्यासियों को अपनी उन्नति के साथ–साथ मनुष्यमात्र की सेवा के लिए प्रेरित किया। विवेकानन्द ने रामकृष्णमठ के घोषवाक्य (motto) '*आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च*' चुना, जो स्वयं ही इस लोककल्याणकारी आशय को प्रकट करता है। विवेकानन्द के जीवनकाल में ही देश में अकाल, महामारी जैसी आपदाएँ पड़ने पर मठ के संन्यासियों ने जिस ढँग से जनसेवा का कार्य किया, किसी संन्यासी सम्प्रदाय में इससे पूर्व ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। प्रतिमा या पाषाण में ईश्वर को पूजने से लाख गुना अच्छा है कि साक्षात् मानवशरीर में स्थित ईश्वर की सेवा की जाए। यद्यपि दोनों ही ईश्वर की पूजा हैं, लेकिन परवर्ती में अपने हित के साथ–साथ दूसरों का भी प्रत्यक्ष हित होता है। यही नहीं, यह गीता के लोकसंग्रह की भावना को भी प्रतिबिम्बित करता है।[1] इसीलिए विवेकानन्द बारम्बार अपने संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को सचेत करते हैं कि उन्हें अपनी आध्यात्मिक साधना के साथ–साथ लौकिक जगत् का भी ध्यान रखना होगा।[2] अपने एक व्याख्यान में उन्होंने मद्रासी युवकों के समक्ष भारतीयों की दुखद तथा अवांछित ग़रीबी का

---

1. 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
   लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।'— **गीता**, 3-20
2. *'You must try to combine in your life immense idealism with immense practicality. You must be prepared to go into deep meditation now, and the next moment you must be ready to go and cultivate these fields (Swamiji said, pointing to the meadows of the Math). You must be prepared to explain the difficult intricacies of the Shastras now, and the next moment to go and sell the produce of the fields in the market. You must be prepared for all menial services, not only here, but elsewhere also.'*- '**Sannyas : Its Ideal and Practice**', CW 3:447

वर्णन किया और साथ ही अपनी योजना के बारे में बताया, जिसमें भारतीय संन्यासियों की प्रतिष्ठा तथा बल को एक ऐसी शक्ति के रूप में परिवर्तित करना है जो कि आमजनता को शिक्षित कर उनका उत्थान करेगी। यह शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान नहीं है बल्कि यह सिखाने वाली है कि कैसे व्यक्ति अपने शरीर तथा मन पर पूर्ण नियन्त्रण करे, आत्मविश्वास उत्पन्न करे और कैसे वह स्वयं ही अपने भीतर छिपी अनेकानेक शक्तियों को निकाल सकता है और धीरे–धीरे अन्ततः अपने को परमात्मा ब्रह्म से अभिन्न रूप में साक्षात्कार कर सकता है।

शंकर का मठ केवल ब्राह्मण जाति को संन्यास ग्रहण की अनुमति देता है। विवेकानन्द का मठ जाति धर्म से निरपेक्ष, प्रत्येक मनुष्य के लिये खुला है। शंकर के सम्प्रदाय में स्त्रियों के लिये संन्यास का विधान नहीं है। विवेकानन्द ने स्वयं स्त्रियों को संन्यास की दीक्षा दी। शंकर ने बौद्धधर्म से प्रभावित भारतीय समाज के बीच से हिन्दू संन्यासियों के एक ऐसे संगठन को खड़ा किया, जो अद्वैतवेदान्त के सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य को विभिन्न झंझावातों के मध्य भी सँजोए रखने में सफल हुआ है और जिज्ञासु–मुमुक्षु साधकों की आध्यात्मिक साधना में सहायता करता रहा है। जबकि विवेकानन्द ने ग़रीबी, दरिद्रता तथा गुलामी से त्रस्त भारतीयों के उत्थान के लिए युवा संन्यासियों का ऐसा संगठन बनाया जो सेवा के द्वारा आत्मविस्मृत जीव को 'आत्मविश्वासयुक्त मनुष्य' बनाकर उसे उच्चतम सत्य को समझ सकने में समर्थ बनाकर अपने साथ–साथ दूसरों की मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त कर रहा है। इस तरह से स्वामी विवेकानन्द का संगठन अधिक व्यावहारिक तथा अधिक लोकोपयोगी सिद्ध हो रहा है।

स्वामी विवेकानन्द के दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

स्वामी विवेकानन्द शङ्कराचार्य की भाँति ब्रह्म और ईश्वर को निर्गुण–सगुण के भेद से भिन्न मानते हैं। जबकि वे भास्कर, रामानुज, निम्बार्क आदि वेदान्तियों की तरह ब्रह्म को ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा नहीं कहते हैं। वल्लभादि वैष्णववेदान्तियों की भाँति विष्णु–कृष्ण आदि को वे ब्रह्म नहीं कहते। उनकी दृष्टि में विष्णु–कृष्ण–ईसा आदि व्यावहारिक रूप में ईश्वरावतार हो सकते हैं, परब्रह्म नहीं। रामानुजप्रभृति वैष्णववेदान्ती और भास्कर भी ब्रह्म को सविशेष या विशेषणविशिष्ट मानते हैं, किन्तु विवेकानन्द शङ्कर के समान ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं। सभी वेदान्तियों को अभीष्ट, ब्रह्म की श्रुतिमात्रप्रमाणता विवेकानन्द को भी इष्ट है। विज्ञानभिक्षु और श्रीहर्ष जैसे दार्शनिक ब्रह्म की सत्ता सिद्धि में अनुमान को भी पुष्ट प्रमाण मानते हैं। लेकिन विवेकानन्द का स्पष्ट मत है कि ब्रह्म अनुमेय नहीं है।[1] ब्रह्म का सच्चिदानन्द–स्वरूप विवेकानन्द को मान्य है। प्रसिद्ध दार्शनिक विज्ञानभिक्षु ब्रह्म को आनन्दरूप नहीं मानते। विवेकानन्द के लगभग समकालिक चिन्तक दयानन्द सरस्वती को भी ब्रह्म की आनन्दरूपता स्वीकार्य नहीं है। लेकिन अन्य सभी वेदान्तियों को ब्रह्म के सच्चिद्–स्वरूप के साथ–साथ आनन्दरूपता में कोई शंका नहीं है।

जीव–ब्रह्म सम्बन्ध की दृष्टि से शङ्कराचार्य ब्रह्म की अखडण्ता बताकर

---

1. *'मन को वृथा तर्क के द्वारा चंचल करना उचित नहीं है। कारण, परमार्थतत्त्व तर्क का विषय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है।'* – **अपरोक्षानुभूति**, वि॰सा॰ भाग–2, पृ.सं॰ 165

जीव–ब्रह्मैक्य की सिद्धि करते हैं। रामानुज जीव को ब्रह्म का विशेषण मानते हैं । निम्बार्क आदि वेदान्ती जीव को ब्रह्म का अंश बताते हैं। विवेकानन्द यहाँ भी शङ्कर से एकमत होकर जीवब्रह्मैक्य स्वीकार करते हैं । वह स्पष्ट कहते हैं कि 'सत्' केवल एक ही है और प्रत्येक आत्मा पूर्णतया वही सत् है,उस सत् का अंश नहीं ।

रामानुज आदि सभी वेदान्ती जीव को अणुपरिमाण वाला मानते हैं । परन्तु विवेकानन्द जीव को शङ्कर के ही समान अन्य वेदान्तियों से विरुद्ध 'विभु' मानते हैं । वह शंकर और भास्कर के समान जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को स्वाभाविक और ब्रह्म के अधीन समझते हैं। विवेकानन्द जीवब्रह्मैक्य को मुक्तावस्था में भी स्वीकार करते है, और वैष्णव या शैव वेदान्तियों का जीव का ब्रह्म के प्रति (मोक्षावस्था) में दास–भाव अस्वीकृत करते हैं। वे चतुर्व्यूह आदि से युक्त लोकों की सायुज्यादि–मोक्ष की कल्पना को भी ठीक नहीं मानते हैं।

शङ्कर के परवर्ती अद्वैतवेदान्तियों ने ईश्वर और जीव के विषय मे आभासवाद, अवच्छेदवाद, और प्रतिबिम्बवाद की अवधारणा की है। आभासवाद के समर्थक सुरेश्वराचार्य हैं। वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद को मान्यता दी है। पद्मपादाचार्य, प्रकाशात्मायति, तथा विद्यारण्य आदि ने प्रतिबिम्बवाद को ठीक माना है। स्वामी विवेकानन्द ने 'आभासवाद' को सबसे सही व्याख्या माना है, यद्यपि वह यत्र–तत्र प्रतिबिम्बवाद का दृष्टान्त भी देते हैं। 'आभासवाद' ब्रह्म की जगत्कारणता की भी सही व्याख्या करता है ।

---

1. द्र॰– **वि.सा॰** भाग–6, पृ.सं॰ 257

यह आभास 'ब्रह्म' का विवर्त है, विकार या परिणाम नहीं। रामानुज, निम्बार्क तथा मध्व परिणामवाद के समर्थक हैं, जबकि वल्लभ इसे अविकृत परिणाम मानते हैं। वल्लभ के अनुसार जगत् सत्य व नित्य है, किन्तु संसार अविद्याकल्पित है। अन्य वेदान्ती जगत् तथा संसार (जीव का जन्म–मरण–चक्र) में भेद नहीं करते। विवेकानन्द का मानना है कि जगत् शून्य नही है, उसमें कुछ वास्तविकता है। संसार केवल इसीलिये प्रतीयमान होता है कि इसके पीछे ब्रह्म का अस्तित्व है।[1] विवेकानन्द शंकर के समान जगत् को आभासी बताकर उसे मिथ्या सिद्ध करते हैं। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभदि जगत् को सत्य और वास्तविक मानते हैं। विवेकानन्द शङ्कर की भाँति मोक्षावस्था में जीव–ब्रह्मैक्य की बात करते हैं। जबकि अद्वैतेतर सम्प्रदाय के वेदान्ती जीव–ब्रह्मैक्य को नहीं मानते। रामानुज के अनुसार जीव मोक्षावस्था में ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, ब्रह्मैक्य नहीं। निम्बार्क भगवत्साक्षात्कार को तथा मध्व जीव की परमात्मा से परमसाम्य–प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं। वल्लभ मुक्ति को भगवत्सायुज्यादिरूपिणी मानते हैं। विवेकानन्द मोक्षावस्था को अखण्ड आनन्द की अवस्था मानते हैं। इस दृष्टि से वह शङ्कर, रामानुजादि आचार्यों से एकमत हैं। मध्वाचार्य से उनका वैभिन्न्य इस बात का है कि मध्व के मत में मुक्तावस्था मे भी जीव समानरूप से आनन्द का अनुभव नहीं करते। जीवों को मिलने वाले आनन्द की मात्रा अलग–अलग होती है। विवेकानन्द मुक्तावस्था में द्वैत को ही स्वीकार नहीं करते, अतः आनन्द की असमान अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। विवेकानन्द अद्वैतवेदान्त के समर्थक

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग–6, पृ॰सं॰ 254

आचार्य विभानभिक्षु के इस मत से भी असहमत हैं कि मोक्षदशा आनन्दशून्य है । सांख्ययोग की चेतना से अनुप्राणित विज्ञानभिक्षु चूँकि ब्रह्म को आनन्दमय नहीं मानते, अतः मोक्षदशा में भी पुरूष को आनन्दशून्य ही मानते हैं ।

मुक्ति नित्य है। इस दशा के पश्चात् फिर किसी प्रकार की आवृत्ति नहीं होती । इस मान्यता में विवेकानन्द सब वेदान्तियों से एकमत हैं। शङ्कर और भास्कर के समान वे भी सारूप्यादि को मुक्ति नहीं मानते ,न ही उन्हें जीव के सम्बन्ध में ब्रह्म का दासत्व या नित्य–कैंकर्य ही ग्राह्य है । इस कल्पना का वे खण्डन करते हैं । निम्बार्क और भास्कर आदि वेदान्ती मुक्ति को एक वास्तविक प्राप्ति मानते है, किन्तु विवेकानन्द शङ्कर की भाँति मुक्ति को प्राप्य नहीं मानते। शङ्कर की भाँति वे भी सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति को स्वीकार करते हैं। निम्बार्क केवल सद्योमुक्ति मानते हैं। श्रीकण्ठ के अतिरिक्त कोई भी भक्तवेदान्ती क्रममुक्ति नहीं मानता। शङ्कर सगुणोपासना के द्वारा ब्रह्मलोक–प्राप्ति और उसके पश्चात् लब्धात्मज्ञानतया नित्यमुक्ति के क्रम को स्वीकार करते हैं । भक्तवेदान्तियों की दृष्टि में मुक्ति के क्रम की यह अवान्तर भूमि ही मुक्ति बन जाती है, क्योंकि इसके परे कोई निर्गुण, निर्विशेष तत्त्व उनकी दृष्टि में रहता ही नहीं। सद्योमुक्तिलाभ में भी दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। एक तो इसी जीवन में जीवित रहते हुये मुक्ति–प्राप्ति और दूसरी, इसी जीवन में पूर्णात्मज्ञान से सकल कर्मक्षय हो जाने से शरीरपात के बाद। पहली स्थिति जीवन्मुक्ति कहलाती है, और दूसरी विदेहमुक्ति। दोनों स्थितियाँ सद्योमुक्ति या ऐहिक मुक्ति में ही सम्भव हैं। विवेकानन्द जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों प्रकार की सद्योमुक्ति मानते हैं। शङ्कर भी दोनों को मानते हैं। रामानुज, भास्कर, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व तथा अन्य

भक्तिवेदान्ती जीवन्मुक्ति नहीं मानते। इनका मत है कि मोक्ष प्राप्ति के बाद शरीर का अस्तित्व नहीं रह सकता। शङ्कर और विवेकानन्द की मान्यताओं में थोड़ा सा अन्तर यह है कि शङ्कर जीवन्मुक्ति को प्रधानता देते हैं जब कि विवेकानन्द की दृष्टि में विदेहमुक्ति ही प्रमुख है।

मुक्ति की साधना

भास्कर के अतिरिक्त शङ्करादि सभी वेदान्तियों की भाँति विवेकानन्द भी तत्त्वज्ञान की साधना से मुक्तिलाभ बताते हैं। इस मान्यता में वह शङ्कर के अधिक निकट हैं। निर्गुणतत्त्वज्ञान से ही वह शुद्धमुक्ति मानते हैं। सगुणोपासना से सद्योमुक्ति नहीं होती प्रत्युत मुक्तिलाभ का क्रम प्राप्त होता है। इस क्रमिक उत्कर्ष में भी जब तक निर्गुण चरमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता, मुक्तिलाभ असम्भव है। भक्तवेदान्तियों से यह उनका मौलिक अन्तर है। विवेकानन्द शङ्करादि अद्वैतवेदान्तियों की भाँति 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस शास्त्रवचन पर पूरा विश्वास रखते हैं। 'तत्त्वज्ञान' मुक्ति का एकमात्र प्रत्यक्ष साधन है। लेकिन परम्परागत अद्वैतवेदान्तियों से उनका इस बात पर वैमत्य अवश्य है कि यह ज्ञान केवल श्रवणमनननिदिध्यासनपरक ज्ञानयोग की साधना से होता है। वह स्पष्ट कहते हैं कि यह तत्त्वज्ञान भक्तियोग, कर्मयोग तथा राजयोग की साधना से भी प्राप्त होता है। यद्यपि यह चारो ही मार्ग तत्त्वज्ञान तथा मुक्ति–रूपी फल समानरूप से देते हैं, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि एक ही साधनाप्रणाली सभी व्यक्तियों के लिये समानरूप से अनुकूल हो। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुकूल साधनाप्रणाली चुननी चाहिए।

भारतीय दर्शन का सबसे अद्‌भुत और विवादास्पद सिद्धान्त शङ्‌कराचार्य का 'मायावाद' रहा है। विवेकानन्द इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। विवेकानन्द 'प्रकृति' शब्द को प्राय जगत् या जागतिक पदार्थ के अर्थ में करते हैं और इसीलिए भ्रमवश इसकी समता लोग सांख्य की प्रकृति से करके उनके इस सिद्धान्त को सांख्यमूलक मानते हैं। यह ठीक नहीं है। उनका यह सिद्धान्त तो पूर्णतः अद्वैतवेदान्त के अनुसार है। वह कहते हैं कि माया के आवरण से देखा गया निरपेक्ष ब्रह्म ही प्रकृति है।[1] प्रकृति में जो कुछ सत्य है, वह ब्रह्म है। वह माया के अध्यास से इस विविधता के रूप में भासित होता है।[2] प्रकृति की अभिव्यक्ति की चर्चा करते हुए वह स्पष्टतः अपने को सांख्य से अलग करते हुए अपने को 'वेदान्ती' कहते हैं।[3] कहीं–कहीं विवेकानन्द 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग माया के अर्थ में भी करते हैं।[4] प्रकृति मिथ्या है। वैष्णववेदान्तियों और सांख्याचार्यों की भाँति उनकी प्रकृति परमार्थ सत् नहीं है। शङ्‌कर की भाँति वह प्रकृति को व्यावहारिक सत्ता मानते हैं[5] पारमार्थिक नहीं। माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है। माया के कारण ही ईश्वर, जीव, और जड़जगत् भासित होते हैं। रज्जु–सर्पवत् विवर्तभूत यह प्रपंच माया का ही जाल है। वैष्णववेदान्ती मायावाद

---

1. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग–7, पृ॰सं॰ 7
2. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग–7, पृ॰सं॰ 237
3. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग–4, पृ॰सं॰ 202
4. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग–8, पृ॰सं॰ 123 तथा भाग–7, पृ॰सं॰ 327
5. द्र॰– **वि॰सा॰** भाग–7, पृ॰सं॰ 98

का प्रबल विरोध करते हैं और जगत् को सत् मानते हैं। विवेकानन्द के अनुसार भी ब्रह्म इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसप्रकार की कारणता मानकर इस अंश में वह शङ्कर, रामानुज, वल्लभ और निम्बार्क की ही श्रेणी में आते हैं। इन आचार्यों ने भी अपने–अपने तरीके से ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना है।

षष्ठ अध्याय

विवेकानन्द के सन्देशों तथा प्रयासों का मूल्याङ्कन

18वीं और 19वीं शताब्दी में भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। भारत की सत्ता मुग़ल शासकों से होते हुए अंग्रेजों के हाथ में आ गयी थी। सर्वत्र ही गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा तथा दरिद्रता का बोलबाला हो गया था। लोगों के सारे कार्यकलाप दो वक्त की रोटी के इन्तज़ाम तक सीमित हो गये थे। कभी विश्व को आध्यात्मिकता का मार्ग दिखाने वाले भारतवर्ष की अपनी सन्तानें ग़ुलामी तथा अत्याचार के आधिक्य से अपने गौरवशाली व्यक्तित्व को भूलकर दीन-हीन अवस्था में पहुँच गयीं। अज्ञान के अन्धकार ने उन्हें गहरी निद्रा में डाल दिया था। घोर हताशा ने मानो उनका सारा पौरुष निचोड़ लिया था। वह डरपोक, सन्देही और किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये थे। इन सबका असर दार्शनिक चिन्तन पर पड़ना स्वाभाविक था।

अद्वैतवेदान्त एवं वैष्णववेदान्त के परम्परावादी दार्शनिक चिन्तन का लगभग अन्त हो चुका था। यत्र -तत्र दोनों परम्पराओं के विद्वान् अपनी-अपनी परम्परा की बात कहने में संलग्न थे, किन्तु उनका स्वर पूर्वाचार्यों की तरह प्रभावी नहीं था। यदि यह कहीं शेष था, तो उन्हीं मठों या आश्रमों तक सीमित था, जिसके दरवाज़े बाहरी दुनिया के लिये लगभग बन्द थे और जिनका जनसामान्य से कोई सम्पर्क न था। जहाँ -जहाँ अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ वहाँ -वहाँ अज्ञेयवाद, सन्देहवाद जैसे पाश्चात्त्य दार्शनिक विचारों का प्रभाव प्रबल हो गया था। आध्यात्मिकता शून्य सी हो गयी थी। धर्म का अर्थ बेतुके कर्मकाण्ड, छुआछूत तथा अन्य कुरीतियों तक सीमित रह गया था। अन्य धर्मों के अनुयायियों को घृणा तथा दुर्भावना से देखना आम प्रचलन हो गया था। पूरा देश रूढिवादिता एवं

धार्मिक कुरीतियों से ग्रस्त था। इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए ईसाई धर्मप्रचारक अपने धर्म को स्थापित करने के लिये हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत कर उसकी निन्दा करते थे। वह शैक्षिक तथा आर्थिक मदद देने के एवज़ में भारतीयों को ज़बरदस्ती ईसाई बनने पर विवश कर रहे थे। ईसाई बनाये गये भारतीयों को यह थोपी गयी साधना पद्धति स्वभाव के अनुकूल न होने से उनकी उन्नति करना तो दूर, उनकी विचारशक्ति को कुण्ठित ही करती रही। आदर्शच्युत तथा बिखरे हुए भारतीय इस्लामयुग में भी प्राणपण से अपने जातीय स्वातन्त्र्य और वैशिष्ट्य को बचाए रखने में सफल रहे थे। किन्तु ब्रिटिश काल में एक विपरीत शिक्षा और संस्कृति के संघर्ष में यह अपने को असहाय पा रहे थे। इन विकट परिस्थितियों में भारतीय चिन्तनधाराओं, दार्शनिक सिद्धान्तों और धार्मिक मान्यताओं के विगलन का विराट् भय उपस्थित हो गया था। आवश्यकता थी एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति की जिसकी गर्जना दीन-हीन व प्रसुप्त भारतीयों की निद्रा तोड़ कर उन्हें पुनर्जागरित करे और खण्डनमण्डन में रत, बाह्यार्थों में उलझी हुई एवं प्रभावहीन हो रही दार्शनिक पद्धतियों को पुनर्प्रतिष्ठित कर सके। 19 वीं शताब्दी में पाश्चात्त्य आदर्श के साथ प्राच्य के संघर्ष से पुनर्जागरण की एक लहर सी उठी और इसका केन्द्र बना बङ्गाल प्रान्त। और सबसे पहले सुधारवादी विचारक हुए राममोहन राय। विभिन्न धर्मों के तत्त्व को जानने वाले राममोहन ने ही सर्वप्रथम विभिन्न धर्ममतों की तुलनात्मक समालोचना का सूत्रपात किया। उस समय शाक्त, शैव, वैष्णव इत्यादि अनेक सम्प्रदाय आपसी विरोधों में उलझे हुए थे। वेदान्त के सहारे राममोहन राय ने इनमें एकता लाने की कोशिश

की। लेकिन इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की गहरी समझ न होने से वह ऐसा करने में असफल रहे। उन्हें हिन्दू नीतिशास्त्र की अपेक्षा ईसाई नीतिशास्त्र अधिक रुचिकर लगा और वह उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने वेदान्तदर्शन के आधार पर हिन्दू धर्म की प्रचलित कुरीतियों का भी विरोध किया। मूर्तिपूजा, सतीप्रथा और जातिभेदप्रथा का उन्होंने प्रबल विरोध किया। इसी विरोध के परिणामस्वरूप 1829 ई॰ में सतीप्रथा को निषिद्ध करने वाला कानून बना। राममोहन राय ने पाश्चात्त्यशिक्षा प्रणाली तथा अंग्रेजी भाषा के कॉलेज भी खुलवाये। महती सद्भावना की प्रेरणा लेकर उन्होंने धर्म और समाज के संस्कार का व्रत ग्रहण किया था, परन्तु अपने प्रारम्भ किये हुए कार्य को भलीभाँति प्रतिष्ठित कर जाने का अवसर उन्हें अपने जीवन में नहीं मिल सका। इसीलिए उनका आदर्श भलीभाँति परिस्फुट न हो सका।

इसके पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अपने ब्राह्मसमाज के माध्यम से सुधार का कार्य जारी रखा। उनका ब्राह्मधर्म पाश्चात्त्य युक्तिवाद पर आधारित था। शीघ्र ही ब्राह्मसमाज ने शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। बड़ी संख्या में पढ़े-लिखे युवक इस समाज से जुड़ने लगे। महर्षि ने 1850 ई॰ में वेद की अपौरुषेयता तथा अभ्रान्तता के सिद्धान्त का परित्याग कर ब्राह्मसमाज को सदा के लिये हिन्दूधर्म से अलग कर दिया। 1859 में केशवचन्द्र सेन के ब्राह्मसमाज में सम्मिलित होने से सुधारयुग के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। स्त्री-स्वाधीनता, असवर्ण-विवाह, उपवीतहीन अब्राह्मण आचार्यों द्वारा ब्राह्मसमाज की उपासना आदि संस्कारों के प्रस्ताव के साथ-साथ ईसाई धर्म के प्रति अत्यधिक प्रीति को

सम्मिलित कर केशव ने कालान्तर में नये ब्राह्मसमाज की स्थापना की। केशव की ईसाई धर्मप्रीति से प्रभावित होकर ब्राह्मसाधक पाप, ईशभय, पश्चात्ताप, भावावेश में रोना इत्यादि को आध्यात्मिक उन्नति में सहायक मानने लगे। लगभग यही काल ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सुधारवादी कार्यों का भी रहा। बंग भाषा के निर्माता, शिक्षा के प्रचार में व्रती, दीन-दुःखी-आर्त्त लोगों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करने वाले, और सबसे बढ़कर देश के समाज की दुर्गति को दूर करने का व्रत लिये हुए विद्यासागर की अतुलनीय कीर्त्तिकथा पुनर्जागरण काल के इतिहास की एक अक्षय सम्पत्ति है। बालविधवाओं के दुःख दूर करने के लिए विद्यासागर अकेले ही प्रयासरत रहे। विभिन्न वर्गों से हो रहे अपने विरोध से बिना विचलित हुए उन्होंने विधवा-विवाह को शास्त्रसम्मत प्रमाणित कर दिया, और उन्हीं के प्रयत्नों का फल रहा कि विधवा-विवाह को कानूनी मान्यता मिल गयी।

इन सभी सुधारवादी विचारकों ने शिक्षा के प्रसार, धार्मिक कुरीतियों का विरोध, इत्यादि के माध्यम से पर्याप्त सामाजिक सुधार किये। लेकिन मूल समस्या अपनी जगह बनी रही। इन सुधारों का सम्बन्ध मूलतः सामाजिक रीति-रिवाजों से था और ये रीति-रिवाज सामान्यतः क्षेत्र के भेद से अलग–अलग ही होते हैं। इसलिए इन सुधारों का असर बंगाल क्षेत्र के आसपास ही रहा। इन सुधारकों ने धर्म के क्षेत्र में सुधार का प्रयास तो करना चाहा, किन्तु धर्म तथा अध्यात्म को ठीक से समझा नहीं। उपनिषदादि ग्रन्थों को पढ़ना अलग बात है और उसमें निहित सत्य का अनुभव कर उसे समझना अलग बात है। यह अन्तर इन सुधारकों ने नहीं जाना। इनको समाजसुधार का यथार्थ

हस्य विदित नहीं था।[1] इन्होंने यथार्थ में सीखने लायक बड़ी बात को नहीं सीखा। ३तावली में इन्होंने समाज के सारे दोषों का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ दिया। इन तुधारकों ने 'समाज' के सुधार पर अधिक ज़ोर दिया और इस प्रक्रिया में 'व्यक्ति' को नूल गये। ईसाई नीतिवाद के प्रचार ने गुलामी के बोझ से आत्मविस्मृत तथा आत्मविश्वासहीन हो चुके लोगों के मन में पाप, भय इत्यादि को ऐसा भर दिया कि उनके उत्थान की सम्भावनाएँ भी धूमिल हो गयीं। यही नहीं, इन सुधारकों ने ध्वंसनीति का अनुसरण करते हुए शक्ति का इतना अधिक क्षय किया था कि निर्माण उनके लिए असम्भव और असाध्य हो गया, यहाँ तक कि वे आपस में ही एकजुट न रह सके, साथ ही समाज को भी शक्तिहीन करते रहे। अनुदार धर्ममत का प्रचार, परस्पर खण्डन–मण्डन, पाश्चात्त्य सभ्यता का अन्धानुकरण और प्राचीन धर्म के मस्तक पर अकारण अभिशापों की बौछार– बस यही परवर्त्ती सुधारवादियों का काम रह गया। भारत का पुनर्जागरण केवल धर्म और आध्यात्मिकता के पुनरुत्थान से सम्भव था और इस बात की सुधारवादी अवहेलना करते रहे।[2] इसीलिए वे पर्याप्त सफल न हो सके। धर्म तथा दर्शन की उन्नति से ही देश का उत्थान सम्भव था। धर्म वह वस्तु है जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है। विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर आरोप–प्रत्यारोप में उलझ कर अपनी शक्ति खो रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों ने धर्म और

---

1. द्र॰– विवेकानन्दः राष्ट्र को आह्वान, पृ॰सं॰ 59
2. *'यदि आप धर्म छोड़कर पाश्चात्त्य सभ्यता के पीछे भागेंगे, तो आपका विनाश निश्चित है। धर्म छोड़ने से हिन्दू जाति का मेरुदण्ड ही टूट जाएगा..'* –**'भारत में विवेकानन्द'**, पृ॰सं॰ 63

र्शन के अनेकानेक अंगों और उपांगों के एकीकरण की प्रवृत्ति को जन्म दिया। फलस्वरूप धर्म और दर्शन के समन्वय-साधना की भावना पनपने लगी और रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द इस समन्वय की साधना के सजग प्रतिनिधि के रूप में अवतीर्ण हुए। रामकृष्ण की शिक्षाओं में द्वैत-विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत का सुमधुर सामंजस्य, भक्ति-ज्ञान तथा कर्म का ऐक्य और श्रुतिस्मृतिपुराणों का सम्मत प्रतिफलित हुआ है। उनकी इन्हीं शिक्षाओं को, अपनी अप्रतिम तर्कशक्ति तथा महती सूक्ष्मेक्षिका से, उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने, अकाट्य तथा पूर्णतः व्यावहारिक रूप में पूरे विश्व में फैला दिया।

द्वैत-विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद में शाश्वत विरोध एवं तात्त्विक वैपरीत्य का प्रतिपादन पारस्परिक तर्कजालों के द्वारा परपक्षखण्डन और स्वपक्षमण्डन निस्सन्देह लोगों के मन में इन सिद्धान्तों तथा इनकी साधना पद्धतियों के प्रति अनास्था और उनके मूलस्रोत श्रुति–स्मृतियों की सत्यपरता में संशय उत्पन्न करता है, जो कि आत्मसाधना के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के साथ-साथ तात्कालिक सामाजिक स्थिति के भय को और अधिक भीषण बनाता है।

इस सन्दर्भ में विवेकानन्द ने अपने दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा की, जिसकी आधारभित्ति समन्वयसाधना में निहित है। यह समन्वय न केवल वेदान्त के सभी मतों द्वैत-विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत के हितों की सुरक्षा का साधक है, अपितु हिन्दू, इस्लाम, ईसाई तथा बौद्ध आदि धर्मों तथा उनकी साधना पद्धतियों के सफल अस्तित्व का अनमोल सम्बल है। यह सारे भेदवाद को निर्मूल करने वाला प्रबल

श्रुतिस्मृति संस्थापक तत्व है। इससे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग तथा राजयोग जैसे साधनाओं का पथ भी आलोकित हुआ है। भारतीय दार्शनिक परम्परा का पावन क्षेत्र सामाजिक प्रहारों से निर्भय हुआ है। इससे भारतीय संस्कृति की निरन्तर प्रवहमान धारा को युगापेक्षी अनुप्राणन प्राप्त हुआ है।

विवेकानन्द अपने सन्देश को लचीला तथा विस्तृत रखना चाहते हैं, ताकि यह समाज के सभी स्तरों तक पहुँच सके, सभी दार्शनिक विचारधाराओं को समन्वित करे और सभी धर्मों के आपसी बन्धन को तोड़ कर उनमें समानरूप से प्रवाहित हो। वह वेदान्त को ऐसे धर्म के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं, जिससे कि व्यक्ति यदि चाहे तो सरलता से इसका अनुसरण कर सके। यही नहीं, वेदान्त की शिक्षा उन लोगों के जीवन में भी स्थान बनाये, जो किसी अन्य धर्म का पालन करते हो या किसी भी धर्म को न मानते हों। विवेकानन्द वेदान्त में ऐसी ही तरलता बनाये रखना चाहते हैं। यह अपने आप में एक धर्म है जिसे प्रत्येक व्यक्ति बिना निजता खोए अपना सकता है। यह सिर्फ अनेक धर्मों में से एक नहीं है, बल्कि यह संसार के सभी सम्भव धर्मों का आधारभूत दर्शन है। यह एक शाश्वत धागा है जिस पर सभी धर्म और सम्प्रदाय पिरोये गये हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी प्रकार से संगठित अनुयायिओं को सूचीबद्ध कर विशिष्ट सम्प्रदाय बनाने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि ऐसा सम्प्रदाय तो इस उद्देश्य को शीघ्र ही विनष्ट कर देता। विवेकानन्द इसे किसी रूप विशेष, व्यक्ति विशेष या संगठन विशेष से नहीं जोड़ना चाहते थे। इसीलिये वह

बारम्बार कहते रहे कि वह किसी नये धर्म या धार्मिक संस्था की नींव नहीं डाल रहे हैं बल्कि वह तो मात्र एक दार्शनिक विचारधारा का शिक्षण कर रहे हैं।

विवेकानन्द ने अज्ञान व हीनभावना की निद्रा में मग्न भारतीयों को जगाने के लिये सबसे पहले उन्हें उनके प्राचीन गौरव का स्मरण कराया। वह उन्हें स्वयं का स्वामी बनने के लिये अपने शरीर तथा मन पर नियन्त्रण करना सिखाते हैं। इसी विधि से वह उनका आत्मविश्वास वापस लाते हैं। वह शिक्षा देते हैं कि कैसे व्यक्ति स्वयं अपने भीतर छिपी अनेकानेक शक्तियों को निकाल सकता है और धीरे-धीरे अन्ततः अपने को परमात्मा 'ब्रह्म' से अभिन्नरूप में साक्षात्कार कर सकता है। 'व्यक्ति निर्माण' विवेकानन्द का अन्यतम सन्देश था।

विवेकानन्द का दिव्य सन्देश सिर्फ भारतीयों के लिये न होकर प्रत्येक मनुष्य के लिये था। यह बात उनके पश्चिम अभियान से स्पष्ट हो जाती है। विवेकानन्द ने पाश्चात्त्य लोगों के उर्वर मस्तिष्क में वेदान्त के सिद्धान्तों के बीजारोपण का जो प्रयत्न किया, वह निश्चित रूप से सफल रहा। उनसे पूर्व किसी हिन्दू संन्यासी ने इस प्रकार समुद्र लाँघकर पश्चिमी देशों में वेदान्त–शिक्षण का कार्य नहीं किया था। उनके समय तक किसी संन्यासी के लिये समुद्र-यात्रा एक वर्जनीय कृत्य था, लेकिन विवेकानन्द ने भोगविलास में निमग्न, धन के उपासक घोर भौतिकवादी पाश्चात्त्यों के उद्धार के लिये संन्यासियों के लिये, निर्धारित अतार्किक मान्यताओं रूपी वर्जनाओं को तोड़ दिया। वह कहते थे कि यदि बुद्ध के पास पौरस्त्यों के लिये सन्देश था, तो उनके पास पाश्चात्त्यों के लिये सन्देश है।

विवेकानन्द ने पश्चिम के धुरन्धर विद्वानों को वेदान्त धर्म के मौलिक गुणों तथा उसकी विशेषताओं को भली-भाँति समझा सकने के प्रशंसात्मक प्रयत्नों में अपूर्व सफलता प्राप्त की। उन्होंने अपनी अप्रतिम वाक्पटुता और बड़ी सरल वाणी द्वारा यूरोप और अमरीका के सुसंस्कृत शिक्षित समाज को यह स्पष्ट कर दिया कि वेदान्त धर्म में एक आदर्श विश्वधर्म के सारे गुण मौजूद हैं और साथ ही इसमें समस्त जातियों तथा धर्मों के स्त्री-पुरुषों की प्रकृति तथा उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल बन जाने की भी क्षमता है। वह नितान्त निःस्वार्थ भावना से प्रेरित होकर सर्वश्रेष्ठ उद्देश्यों को सम्मुख रखकर तथा प्रशंसनीय आत्मत्याग के साथ पश्चिम में सत्य तथा शान्ति का सन्देश सुनाने गये। उन्होंने अपने उपदेश तथा जीवन में उसके प्रयोग, दोनों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि विश्वबन्धुत्व किस प्रकार सम्भव है और उसकी क्या आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द की कृतियों ने पूरे विश्व के सामूहिक मन में विचार की एक नयी धारा प्रवाहित कर दी। ऐसी धारा, जिसके लाभकारी प्रभाव मानव के कार्यकलाप में धीरे–धीरे किन्तु अवश्यमेव दृष्टिगोचर होंगे: क्योंकि स्वामी जी का आध्यात्मिक व्यक्तित्व ही ऐसा था कि वह लोगों के बीच उनके विचारों को परिवर्तित, समृद्ध तथा प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते थे। वास्तव में, मानव मन को गहरे आन्तरिक स्तर पर चैतन्य कर देना और लक्ष्य-प्राप्ति तक उस चैतन्यता को बनाये रखने में उनकी सहायता करना, ऐसे महापुरुषों का प्राथमिक कार्य रहता है।

उपसंहार

स्वामी विवेकानन्द की कृतियों में उपलब्ध दार्शनिक विचारों के अध्ययन से स्पष्ट है कि वह मूलतः एक अद्वैतवादी दार्शनिक हैं। वेदान्त की अन्य शाखाओं के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हुए भी वह अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों को पारमार्थिक दृष्टि से परम सत्य मानते हैं। तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, जगत् की समस्या और मायावाद इत्यादि पर उनके विचार पूर्णतः अद्वैतसम्मत हैं। शङ्कराचार्य के दर्शन से वह विशेष रूप से प्रभावित हैं और अपने सिद्धान्तों में वह अन्य किसी भी वेदान्ती विचारक की अपेक्षा शङ्कराचार्य के बहुत अधिक निकट हैं। शङ्कराचार्य के परवर्त्ती अद्वैतवादी दार्शनिकों की एक लम्बी तथा अविच्छिन्न श्रृंखला है, किन्तु इनके द्वारा अद्वैतसिद्धान्तों की व्याख्या, स्पष्टीकरण तथा विरोधी मतों के खण्डन का कार्य ही प्रमुखता से किया गया। लेकिन यह शुष्क सैद्धान्तिक दर्शन जनसामान्य की पहुँच के बाहर होने के साथ-साथ उनका किसी प्रकार से कल्याण भी नहीं करता था। जनसामान्य की आध्यात्मिक उन्नति तो किसी व्यावहारिक दर्शन या धर्म से ही सम्भव थी। विवेकानन्द का मानना है कि श्रेष्ठ दर्शन वही है जो यौक्तिक होने के साथ ही व्यावहारिक भी हो। अतः विवेकानन्द के चिन्तन की मुख्य समस्या अद्वैतवेदान्त को व्यावहारिक दर्शन बनाने की है। 'शिवभाव से जीवसेवा' के गुरुमन्त्र को अद्वैतवेदान्त के साथ जोड़कर उन्होंने भारत के दार्शनिक इतिहास का सबसे अद्भुत तथा अनूठा प्रयोग किया है। साधारण मनुष्य को ईश्वर मानते हुए उसकी सेवा करना मुक्तिसाधना का अश्रुतपूर्व मार्ग है। यह एकसाथ कर्मयोग,

ाक्तियोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग को अपने में समाहित करता है। यह द्वैत तथा वेशिष्टाद्वैत की सीढ़ियों से होते हुए अद्वैत तक पहुँचने का सहजसाधनपथ है। उन्होंने अपनी विलक्षण सूक्ष्मेक्षिकासम्पन्न प्रतिभा द्वारा अपनी कृतियों में तत्त्वदर्शन की ऐसी शाश्वत ज्योति प्रकाशित की है, जो सामान्यजनों का भी सहजग्राह्य प्रेरणास्रोत है। उनकी कृतियों में जीवन के चरम लक्ष्यभूत अध्यात्मप्रकाश की सम्प्राप्ति के अनेकविध साधनों की सरलतम विधि प्रतिपादित है। व्यावहारिक लोकजीवन एवं परमार्थसाधना का सन्तुलित समन्वय, जो भारतीय मनीषियों की तत्त्वान्वेषिणी प्रज्ञा की अद्वितीय मौलिकता है– वही स्वामीजी की कृतियों का स्वाभाविक वर्ण्यविषय बना है। निस्सन्देह समन्वयभावना से अनुप्राणित उनकी कृतियाँ श्रेयःप्रधान अभ्युदय एवं पार्यन्तिक रूप में ब्रह्मज्ञान की सम्प्राप्ति का सफल निदर्शन करती हैं। समन्वयसाधन का यह कार्य सरल नहीं था। उपनिषद् के आध्यात्मिक भावों को विदेशी भाषा में व्यक्त करना, फिर शुष्क दर्शन, पेचीदी पुराणकथाओं और अनूठे आश्चर्यजनक मनोविज्ञान से एक ऐसे धर्म का निर्माण करना जो सरल, सहज व लोकप्रिय हो, और उसके साथ ही उन्नत मस्तिष्क वालों को भी सन्तुष्ट कर सके। स्वयं विवेकानन्द अपने इस कार्य के बारे में कहते हैं कि *अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में नित्यप्रति के जीवन के लिये कविता का रस तथा जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है, अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं, बुद्धि को भ्रम में डालने वाली योगविद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक एवं क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है और इन सबको ऐसे रूप में लाना है कि बच्चा-बच्चा इसे समझ सके*। वास्तव में जिस अद्वैतज्ञान को शङ्करादि

आचार्य केवल गिने-चुने मुमुक्षुओं को ही देना चाहते थे, विवेकानन्द ने जाति, वर्ण, स्त्री-पुरुष की भेदभावना से मुक्त होकर सनातन धर्मरूपी समुद्र को मथकर प्रत्येक मनुष्य को समभाव से उसी अद्वैतज्ञानरूपी अमृत का दान दिया है। और इसी देन के कारण उनका नाम भारत के दार्शनिक इतिहास में सदा के लिए अमर हो गया है। भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के प्रशस्त प्रतीक के रूप में विवेकानन्द यहाँ की युग-युग-पुरातन ज्ञानगाथा के अप्रतिम चरित-नायकों की अग्रिम पंक्ति में सदा पांक्तेय रहेंगे।

सहायक ग्रन्थ सूची

हिन्दी ग्रन्थ

1— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—*सेठ गोविन्ददास,* निम्बार्क पीठ, प्रयाग (Ist Ed. 1971)

2— अद्वैत वेदान्त— *डा0 राममूर्ति शर्मा* , नई दिल्ली

3— अध्यात्ममार्गप्रदीप— *स्वामी वागीश्वरानन्द* (रामकृष्ण मठ, धन्तोली 4th Ed. 1999)

4— आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान—
डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, लोकभारतीप्रकाशन

5— आचार्य शंकर— *स्वामी अपूर्वानन्द,* रामकृष्ण मठ, धन्तोली

6— आधुनिक भारत का इतिहास—*एम॰एस॰ जैन,* (मैकमिलन इण्डिया लि॰, 2nd Ed. 1977

7— गीता प्रबन्ध— *श्री अरविन्द घोष,* अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी (2nd Ed. 2000)

8— ध्यान, धर्म तथा साधना—*स्वामी ब्रह्मानन्द,* (रामकृष्ण मठ, धन्तोली 6th Ed. 2002)

9— परिव्राजक (बंगला)— *स्वामी विवेकानन्द* (उद्बोधन कार्यालय Ist Ed. 1905)

10— प्राच्य ओ पाश्चात्त्य (बंगला)— *स्वामी विवेकानन्द* (उद्बोधन कार्यालय 4th Ed. 1918

11— भारत में शक्तिपूजा— *स्वामी सारदानन्द* (रामकृष्ण मठ, धन्तोली 7th Ed. 1999)

12— भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन— *चन्द्रधर शर्मा,* मोतीलाल बनारसीदास

13— योगसूत्रभाष्यसिद्धि— *डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव,* चौखम्भा प्रकाशन

14— विवेकानन्द चरित— *सत्येन्द्रनाथ मजूमदार*— रामकृष्ण मठ धन्तोली

15— विवेकानन्द साहित्य— भाग 1—10 अद्वैत आश्रम, मायावती (चतुर्थ संस्करण 1996)

16— श्री निम्बार्कदर्शन— *ललितकृष्ण गोस्वामी* (श्रीनिम्बार्क पीठ,प्रयाग Ist Ed. 1963)

17— श्री रामकृष्णलीलाप्रसंग— भाग 1से 3— *स्वामी सारदानन्द,* रामकृष्ण मठ, धन्तोली

18— श्री रामकृष्णवचनामृतप्रसंग— *स्वामी भूतेशानन्द,* रामकृष्ण मठ, धन्तोली

19— श्रीरामकृष्णवचनामृत—भाग 1 व 2— *श्री 'म',* रामकृष्ण मठ, धन्तोली

20— श्री रामानुज चरित—*स्वामी रामकृष्णानन्द,* अद्वैत आश्रम, मायावती (Ist Ed. 2003)

संस्कृत ग्रन्थ

1— अणुभाष्यम् —*वल्लभाचार्य* (निर्णयसागरप्रेस मुम्बई 1987)

2— अष्टावक्रसंहिता— अद्वैत आश्रम, मायावती

3— ईशादि उपनिषद्— शांकर भाष्य गीता प्रेस

4— गीता—शांकरभाष्य, गीता प्रेस

5— तत्त्ववैशारदी —*वाचस्पति मिश्र* (चौखम्बा, बनारस 1935)

6— न्यायसूत्रम्— *गौतम* (पूना 1939)

7— पंचदशी— *विद्यारण्य* (निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई 1949)

8— पंचीकरणम्— *शंकराचार्य,* अद्वैत आश्रम

9— ब्रह्मसूत्र— शांकरभाष्य, रत्नप्रभा टीका समेत

10— ब्रह्मसूत्रभाष्यम् —*मध्वाचार्य* (मैसूर, 1911)

11— भारतीय दर्शन —*पं० बलदेव उपाध्याय* (वाराणसी, 1957)

12— मन्त्रपुष्पम्—संकलित, रामकृष्ण मठ, मुम्बई

13— शिवमहिम्नस्तोत्र— *पुष्पदन्ताचार्य* (चौखम्बा, 1938)

14— योगवाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त —*बी०एल०आत्रेय* (बनारस, 1957)

15— विवेकचूडामणि—*शंकराचार्य,* अद्वैत आश्रम

16— वेदान्तसार— *सदानन्द,* अद्वैत आश्रम

17— वेदार्थसंग्रह—*रामानुज,* (डेक्कन कॉलेज़ पूना,1958)

18— श्रीभाष्यम् — *रामानुजाचार्य* (मद्रास, 1910)

19— सर्वदर्शन संग्रह— *माधवाचार्य* (पूना, 1906)

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

1. Comprehensive Biography of Swami Vivekanand Vol. 1 & 2
   Sailendra Nath Dhar (Vivekanand Prakashan Kendra, Madras, 1st Edition, 1975)
2. God Lived With Them -*Swami Chetnanand,*
   (Advait Ashram, Mayavati, 1st Edition 1998)Swami
3. History of Political Thought- *B.Majumdar* vol.1-2 (Calcutta, 1934)
4. History of the Ramkrishna Math and Mission- *Swami Gambhiranand*
   (Advait Ashram, Mayavati, 1951)

5. Indian Philosphy-*Dr. S. Radhakrishna* (London,1927)

6. Ramkrishan As We Saw Him -*Compiled,Edited & Published by Swami Chetnanand,* (Advait Ashram,1st Edition 1999)

scence of Swami Vivekanand -*By his Eastern and Western Admires,* (Advait Ashram, 3rd Edition 1983)

. Vivekanand: A Forgotten Chapter of His Life- *B.S.Sharma* (Calcutta, 1963)

ınand in the West: New Discoveries Part 1-6

ırie Louis Burke, (Advait Ashram, 4th Edition, 1st reprint 2000)

ıi Vivekanand: Patriot Prophet A Study- *Bhupendranath Dutt.* (Calcutta, 1954)

ıi Vivekanand Studies in Soviet Union - (The Ramkishan mission institute of culture, Calcutta.1987)

:omplete Works Of Swami Vivekanand, Part 1-9 (Advait Ashram, Mayawati 2003)

ʻlaster As I Saw Him - *Sister Nivedita* (Udbodhan Office,9th Edition 1962)

.ife of Swami Vivekanand *by his eastern and western disciples,* Part 1-2 (Advait Ashram, 6th Edition, 1st Reprint 2000)

cience and Philosophy of Religion -*Swami Vivekanand* (Udbodhan Office, 1st Ed. 1908)

Lived With God -*Swami Chetnanand,* (Advait Ashram, 1st Edition 1999)

ƙanand A Biography-*Swami Nikhilanand* (Ramkrishan Vedant Center] NewYork, 1st Ed. 1953)

kanand and His Work -*Swami Abhedanand* (Ramkrishan Vedant Math, Calcutta)

·kanand in Indian Newspapers- *S.P. Basu* (Calcutta, 1969)

संक्षिप्त-शब्द-सूची

वि॰सा॰ – विवेकानन्द साहित्य

ब्र॰सू॰ – ब्रह्मसूत्र

पृ॰सं॰ – पृष्ठ संख्या

द्र॰ – द्रष्टव्य

छा॰उ॰ – छान्दोग्योपनिषद्

तै॰उ॰ – तैत्तिरीयोपनिषद्

SviW - Swami Vivekanand in West: New Discoveries

Life - The Life Of Swami Vivekanand *by his eastern and western disciples*

p. - page number

CW - The Complete Works of Swami Vivekanand